लक्ष्मीनिवास बिड़ला

जीवन की चुनौती

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

[illegible]

जीवन की चुनौती

विचार-प्रेरक लेख

लेखक
लक्ष्मीनिवास बिड़ला

•

श्री श्रीप्रकाशजी की
प्रस्तावना सहित

•

१९६९
सस्ता साहित्य मंडल
प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

पहली बार : १९६९
मूल्य : दो रुपये

मुद्रक
राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स
क्वींस रोड
दिल्ली-६

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक की कई कृतियां हिन्दी के पाठकों को सुलभ हो चुकी हैं। उनके लघु निवंधों का एक संग्रह 'कहिए समय विचारि' तो मण्डल से ही प्रकाशित हुआ है। उसमें लेखक ने उन विषयों को लिया है, जो जीवन के निर्माण में सहायक होते हैं और उन्होंने अपनी बात बड़े सरल-सुवोध ढंग से कही है।

पर उनका यह नया संग्रह उससे कुछ भिन्न है। इसमें उन्होंने जीवन के अधिक गंभीर प्रश्नों को लिया है और उनके समाधान की खोज में गहराई से चिन्तन किया है। फलतः यह पुस्तक भाव और भाषा की दृष्टि से गूढ़ वन गई है और मनोयोगपूर्वक पढ़े जाने की अपेक्षा रहती है।

हिन्दी में निवन्ध बहुत लिखे गये हैं, लेकिन गूढ़ विषयों पर लघु निबंध आज भी कम पाये जाते हैं। इस दृष्टि से यह संग्रह हिन्दी साहित्य के एक अभाव की आंशिक पूर्ति करता है।

हमें विश्वास है कि पाठक इस पुस्तक को चाव से पढ़ेंगे।

—मंत्री

प्राक्कथन

भारत ने बाईस वर्ष पूर्व स्वाधीनता प्राप्त की। हमने सम्पन्नता के, सुख और समृद्धि के, सपने देखे। विश्व-युद्ध समाप्त हुआ ही था, युद्ध के दौरान जिन विशेष समस्याओं तथा अवसरों ने अपनी अगणित शाखा-प्रशाखाओं के साथ जन्म लिया, उन्होंने हमारे राष्ट्र के ध्यान को भी प्रमुख रूप से आकृष्ट किया। हमने एक मैत्रीपूर्ण विश्व की कल्पना की, जिसमें सभी परस्पर सहायक रहें। किन्तु हम जहां भी दृष्टि डालते हैं, विरोधाभास ही दीखता है।

आज हम दोष लगाते हैं कि समाज के मन का ढांचा विकृत हो गया है और कदाचित् उसने उसकी महान्-से-महान् परम्पराओं को भी दूषित कर दिया है।

पुराने जमाने में मानव के जीवन पर नियंत्रण करने के लिए कोई कानून नहीं थे। मनुष्य अपनी इच्छानुसार कुछ भी करने के लिए स्वतंत्र था। लेकिन क्या वह ऐसा करता था ?

तब स्वनियंत्रण था। व्यक्ति को समाज का भय इसलिए नहीं था कि समाज उसे दण्ड देता, बल्कि वह समाज से नियंत्रित रहता था, क्योंकि वह अपने आत्म-सम्मान के लिए उन मान्यताओं का आदर करने के लिए बाध्य था।

कानून द्वारा लगाये गए विविध प्रतिबन्धों ने सबका एक बिल्ली-चूहे का खेल बना दिया है। मनुष्य केवल इतना ध्यान रखते हैं कि वे कानून के पंजे में न फंसें। जबतक पकड़े नहीं जाते, वे सुखी रहते हैं।

संविधान ने हमें चार स्वतंत्रताओं का आश्वासन दिया है। उनमें भाषण तथा विचार की स्वतंत्रता भी शामिल है, किन्तु विभिन्न मतभेद के स्वर

का दवा-सा दिया जाता है। हमारे समाज को लोकतांत्रिक माना जाता है तथापि उसका राजनैतिक ढांचा लोकेच्छा के प्रति उदासीन है। जनता का एक बड़ा भाग अभाव से पल रहा है। सरकार में हमें सत्ता के संचय और उन लोगों से अलगाव के दर्शन होते हैं, जिनपर उसके निर्णयों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। हमारी कुछ राष्ट्रीय प्राथमिकताएं कदाचित् उलट गई हैं। हमारा अपने जीवन पर नियंत्रण नहीं रहा है।

हम क्रान्तिकारी नहीं हैं। हम ऐसा नहीं सोचते कि सभी पुरानी परम्पराओं और नैतिकताओं को तिलांजलि दे देनी चाहिए और न नये विचारों से ही हमें संकोच है। हम न तो किसी मत-विरोध के प्रति आग्रही हैं और न किसीके बहकावे में हैं। वर्षों से हम देखते आ रहे हैं कि घोषित उपलब्धियों की वास्तविकताओं से दूरी बढ़ती ही जा रही है, जिससे वर्तमान व्यवस्था में हमारा संशय बढ़ा है। केवल व्यावहारिक अनुभव से ही हम किसी निष्कर्ष पर पहुंचना चाहते हैं।

इसी उद्देश्य से मैंने आज की कुछ समस्याओं पर कुछ लिखने का साहस किया है। ऐसा हमारे जीवन पर प्रभाव डालनेवाले कुछ तत्त्वों का विश्लेषण करने और उन्हें समझने की भावना से किया गया है। मेरा उद्देश्य अपने विचारों को भाषा देना मात्र है, जिससे हम सभी सोचें। हम सभीका मूल उद्देश्य एक ऐसे सम्मिलित समाज की आशा करना है, जिसमें हम अपनी-अपनी रुचियों के अनुसार काम करने को स्वतंत्र रहें।

बिड़ला निकेत,
कलकत्ता

—लक्ष्मीनिवास बिड़ला

प्रस्तावना

जबसे मनुष्य में विचार करने की शक्ति आई, तबसे ही जन्म और मृत्यु, सुख और दुःख की समस्याओं पर उसकी दृष्टि गई और इनके समाधान की खोज में वह पड़ा। संघटित मनुष्य समाज और तथाकथित सभ्यता का कितना ही विकास क्यों न हुआ हो, इसमें तो सन्देह नहीं कि ये मूल प्रश्न बने ही रहे। सुख की ही अभिलाषा से मनुष्य कार्य करता है, पर प्रकृति का यही अभिशाप है कि वह उसे मिलता नहीं। साथ ही मनुष्य भी उसकी लालसा छोड़ता नहीं, उसीकी प्राप्ति के लिए सदा प्रयत्न करता रहता है और जो कुछ हम अपने सामने देखते हैं, वह उसीका प्रतीक है।

पूर्वीय दार्शनिकों का मत है कि परलोक, अध्यात्म आदि की भावना मनुष्य के हृदय में कष्ट और मृत्यु के भय के कारण उत्पन्न हुई और इसके आधार पर बड़े-बड़े धर्मों की स्थापना हुई और बड़े-बड़े शास्त्रों की रचना की गई। परन्तु मनुष्य को इससे शान्ति नहीं मिली और वह जन्म, मृत्यु आदि के मूल रहस्यों की खोज में पड़ा ही रहा। लौकिक स्थितियों का यदि पता लगता है और यदि किन्हीं भौतिक शक्तियों का आविष्कार होता है तो वे सब बातें मान ली जाती हैं और बार-बार उसके प्रमाण आदि की खोज नहीं की जाती। पर आध्यात्मिक विषयों की सत्यता और तत्संबंधी अनुसंधान का परिणाम नितान्त व्यक्तिगत होता है। उससे व्यक्ति विशेष को सन्तोष हो, पर दूसरों को अपने सन्तोष के लिए उसकी स्वयं खोज करनी ही पड़ती है।

प्रत्येक अन्वेषक का प्रकार पृथक्-पृथक् होता है। उसका निष्कर्ष भी उसके निज के अनुभव, अध्ययन और अदृष्ट और अनेक कारणों से जनता

प्राप्त प्रकृति के अनुरूप होता है। इस समय अपने देश में अद्‌भुत स्थिति उत्पन्न हो गई है। बहुत दिनों से विदेशी शासन के अधीन हम रहे। घटनाचक्र ने हमें यकायक स्वतंत्र कर दिया अर्थात् राजनैतिक दृष्टि से हम स्वाधीन हो गये और ऐसी अवस्था में हम अपने भाग्य के विधाता स्वयं हो गये। हमें वे सब अवसर मिले, जिनका हम उपयोग कर अपने आदर्शों को प्राप्त कर सकते हैं, अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति कर सकते हैं, अपने सुख के साधनों को एकत्र कर सकते हैं; पर इसमें संदेह नहीं कि हम अपनी परम्पराओं और पुराने संस्कारों के प्रभाव से पृथक् नहीं ही हो सकते। इस कारण हमारे बीच भयंकर संघर्ष उत्पन्न हो गये हैं।

एक तरफ हमारी पुरातन आध्यात्मिक और दार्शनिक भावनाएं हैं, जिनका प्रभाव हमारे हृदयों में पड़ा हुआ है, दूसरी तरफ विदेशी शासनों के अनुभव हैं, जिन्हें भी हम भुला नहीं सकते। विदेशों से प्राप्त विचार-शैलियां और कार्य-प्रणालियां भी हमें अपनी ओर आकर्षित करती हैं और हम भी उन देशों की तरह होना चाहते हैं, जो इस समय समुन्नत और भौतिक और वैज्ञानिक दृष्टि से बड़े वैभवशाली हो रहे हैं। साथ ही न हम अपने पुराने संस्कारों को भूल सकते हैं, न पुराने अनुभवों से अपनेको दूर रख सकते हैं। अवश्य ही इस समय का हमारा संघर्ष स्वाभाविक और अनिवार्य है तथापि उसके कारण हम भयंकर व्यामोह में पड़ गये हैं। जो कोई हमें ठीक मार्ग जानने में सहायता दे, वही हमारे धन्यवाद का पात्र है।

अवश्य ही इन्हीं सब प्रश्नों पर विचार करते हुए तथा देश, समाज और संसार पर विहंगम दृष्टि डालते हुए, मेरे मित्र श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला ने नौ सुन्दर लेख लिखे हैं, जिनमें प्राचीन और अर्वाचीन विचारों और स्थितियों का चित्र-चित्रण करते हुए उन्होंने सबका समन्वय करने की आवश्यकता पर सभीका ध्यान दिलाया है। उनकी यही अभिलाषा है, जो सर्वथा उचित और साथ ही व्यवहार्य है, कि हम पुरातन आदर्शों से सम्बद्ध रहते हुए नये आविष्कारों को अपनाएं और आध्यात्मिक तथा

आधिभौतिक आचार-विचारों का सम्मेलन कर अपनी सच्ची उन्नति करें।

आध्यात्मिक लोग प्रायः सांसारिक बातों को हेय समझते हैं और सांसारिक लोग आध्यात्मिक बातों को व्यर्थ की विडम्बना मात्र मानते हैं। केवल एक तरफ का ही हो जाने में व्यक्ति और समाज दोनों की हानि है। हमारे विज्ञ लेखक ने अपने भावपूर्ण और विद्वत्तापूर्ण लेखों में दोनों की आवश्यकता बतलाई है, जिससे लोक-परलोक दोनों ही हम बना सकें। श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला ने अपनी रचनाओं में अपने विचारों को पुष्ट करने के लिए प्राचीन शास्त्रों के वाक्यों को यदि एक ओर उद्धृत किया है तो दूसरी ओर पाश्चात्य वैज्ञानिकों और दार्शनिकों के विचार बतलाये हैं। अपने विस्तृत अनुभव और अध्ययन का इस प्रकार लाभ अपने पाठकों को पहुंचाया है। देश को किस मार्ग से चलने से लाभ होगा और उनकी दृष्टि में देश का भावी रूप क्या होना चाहिए, यह भी दर्शाया है। उनका सुन्दर आदर्श यही है कि हम अपने देश का आर्थिक और राजनैतिक संघटन इस प्रकार का करें, जिससे व्यक्ति अपने आन्तरिक आदर्शों, अभिलाषाओं और आकांक्षाओं के अनुकूल कार्य कर सकने में स्वतंत्र रहे और साथ ही समाज के हित के लिए सुसंघटित राज्य की आवश्यकता अनुभव करते हुए प्रत्येक स्त्री, पुरुष देश को स्वतंत्र बनाये रखने में सदा सक्रिय सहायक हो। इसी दृष्टि से सब समस्याओं की विवेचना करनी चाहिए और इनके समाधान का क्या प्रकार हो सकता है, इस संबंध में लेखक के सुझाव पर ध्यान देना लाभदायक होगा।

मैं लब्ध-प्रतिष्ठ बिड़ला-कुटुम्ब के सुयोग्य सदस्य श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला के लेखों का स्वागत करता हूं। मेरी शुभकामना है कि इनका अच्छा प्रचार हो और इस समय की स्थिति से व्याकुल स्त्री-पुरुष निराश न हों, पर अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए देश और समाज को उनके अभीष्ट लक्ष्य पर पहुंचाने में सदा यथाशक्ति, यथाबुद्धि, प्रयत्न करते रहें।

सेवाश्रम, सिगरा, वाराणसी —श्रीप्रकाश

विषय-सूची

जीवन
की
चुनौती

१ | जीवन की चुनौती

जीवन कैसे जिया जाय ? इसका उत्तर दे पाना सरल नहीं है। जीवन के तत्त्व और जीने की परिस्थितियां परस्पर अत्यन्त जटिल ताना-बाना बुनती हैं। विभिन्न परिस्थितियों का सामना करने के लिए कितने दृष्टिकोण अपनाये जा सकते हैं, इसकी कोई सीमा नहीं है। तथापि, आम भाषा में, हर जीवन निराला है, जबकि हर जीवन दूसरे से अभिन्न है।

पहली बात यह है कि जीवन का सार उद्यम ही है। मानव-जीवन को जन्म देने की इच्छा में भी माता-पिता का उद्यम अपेक्षित है। वह किसान भी, जो अन्न और फल-फूल—वनस्पति-जीवन—का विकास करता है, रुचिकर और उपयोगी उद्यम अपनाता है। नये जीवन के सृजन की इच्छा तथा निर्णय अपने आपमें एक महाकार्य, एक आनन्दकर दायित्व है।

जीवन स्वयं एक रहस्य है। किन्तु एक बार जीवन के अस्तित्व में आने पर उसका संचालन अपनी निजी अंतर्निहित शक्ति से, भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्ति से, होना चाहिए। पशु और वनस्पति जीवन के बारे में तो हम कल्पना ही कर सकते हैं, किन्तु मानव-जीवन मनुष्य के जीवन-विषयक चिन्तन का निरंतर रूपांतर है। वही जीवन श्रेष्ठ जिया जाता है, जो जीने की ज्वलन्त इच्छा से उद्भूत तथा संकल्पित हो। व्यक्ति-

गत और सामाजिक दृष्टि से, हमारा विचार और कर्म, रूपांतरकारी शक्ति प्रदान करते हैं और उस आदि सत्ता को पूर्णता प्रदान करते हैं, जो जीवन का मूर्त रूप है।

जीवन के अस्तित्व के मंच पर अवतरित होने पर उसकी भूमिका से पात्र का चरित्र प्रकट होता है। मानव-समाज का गठन मन की कही और अनकही भाषा के द्वारा होता है, क्योंकि मन ही जीवन को निर्दिष्ट मार्ग पर आगे बढ़ाता है। अन्ततः मन ही मनुष्य का निर्माता है और सृजन की दुनिया में मन के विकास का प्रतीक ही मानव है। मन सृजन की पराकाष्ठा है।

आज के समाज के सामने मुख्य चुनौती वर्धमान परिवर्तनों की दुनिया में पैदा होनेवाली कठिनाइयों और अवसरों की है। वह ऐसी पहले कभी नहीं थी। यों तो परिवर्तन सदा से मानव की परिस्थिति का भाग रहा है, किन्तु अन्तर अब परिवर्तन की गति का है। यह परिस्थिति मनुष्य की अपनी पैदा की हुई है। जीवन का नाटकीय कर्म संकटों से जूझना, अज्ञात और अज्ञेय को जानना है, क्योंकि मन की शक्ति ही सच्ची ज्योति है।

पुरातन समाज का ढांचा सीधा-सादा था, विशेषकर विगत कोई सौ वर्षों में फैल-फूलकर वह जटिल हो गया है। उसका आक़ार विशाल हो गया है और सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि उसके विकास से व्यक्ति का क्षेत्र व्यापक हुआ है तथा अकेले ही उसे अपनी समस्याओं का सामना करना है।

एक ऐसे जहाज की मिसाल लीजिए, जो बीच समुद्र में डूबता हो और उसके यात्री तितर-बितर हो रहे हों, प्राण-रक्षा के लिए उन्हें लहरों से जूझना हो। वे एक-दूसरे की ओर समझ-

दारी की दृष्टि डाल सकते हैं और सहायता के लिए संकेत भी दे-ले सकते हैं, किन्तु एक-दूसरे के लिए कुछ कर नहीं सकते। ऐसी ही यह दुनिया है। यहां हर व्यक्ति को अपने लिए संघर्ष करना है। कदाचित् ही किसीको पकी-पकायी मिले।

अभी उस दिन मैंने अपना ट्रांजिस्टर खोला। 'विविध भारती' का कार्यक्रम चल रहा था। एक गीत की दो पक्तियां अब भी मेरे मन में चक्कर काट रही हैं : "न मुंह छुपाके जियो, न सर झुका के जियो।" इसकी संगीत-माधुरी के अलावा इसके गहरे अर्थ को भी समझना चाहिए। इस संदेश की उपेक्षा कर भला कौन शान का जीवन व्यतीत कर सकता है ? पूर्ण जीवन जीने के लिए जीवन से संघर्ष करना होता है। बिना इस स्पष्ट तथ्य को स्वीकार किये जीवन की तरुण छाया और प्रखर प्रकाश का अनुभव नहीं हो सकता। तत्व के ढांचे से अधिक महत्त्वपूर्ण जीवन की चमक है।

हम अनेक विरोधाभासों, अनेक द्वन्द्वों, अनेक अप्रकट रहस्यों की बात सोच सकते हैं। हो सकता है, उनमें कुछ सदा ही अज्ञात रहे आयें और थोड़े-से व्यक्ति केवल जर्जर पत्रों तथा मर्मर संगीत की अस्पष्ट विडम्बनाओं को ही देख सकें। जो कुछ हमारे प्रयत्नों पर अंकुश लगाता है, उसे हम दैव (भाग्य) कहते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से सोचने और नैतिक अंतर्दृष्टि से देखने से यह द्वन्द्व रहस्यवादी रूप धारण कर लेता है, हम इसे 'माया' कह सकते हैं।

महाभारत के शांतिपर्व में शाश्वत [धर्म की चर्चा करते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा था :

उत्थानेन सदा पुत्र प्रयतेथा युधिष्ठिर
न ह्यु्त्थानमृते देवं राज्ञामर्थं प्रसाधयेत् ।।
पौरुषं हि परं मन्ये दैवं निश्चित्य मुह्यते ।।

पुत्र, सदा उद्यमपूर्वक प्रयत्न करो, उद्यम के बिना दैव (भाग्य) राजाओं को भी सिद्धि प्रदान नहीं करता। मैं पौरुष को अधिक महान् मानता हूं। दैव में विश्वास करनेवाला मनुष्य उलझन में फंस जाता है।

वास्तव में दुर्बल व्यक्ति ही दैव को दोष देते हैं। दैव का सही उपयोग हमारे व्यवहार में सम उदात्तता लाना है। दैव का सर्वोत्तम उपयोग दुर्दम्य साहस का पाठ पढ़ाने में है, क्योंकि यदि दैव इतना व्यापक है तो मनुष्य भी उसीका अंग है, फिर क्या उसे दैव की अनिवार्य चुनौती को स्वीकार कर उसका सामना दैव से नहीं करना चाहिए ? किन्तु यह केवल अपनी सफाई के लिए बहाना-भर है। विचार-दोहन मनुष्य को दासता से निकालकर स्वतंत्रता प्रदान करता है। फिर भी, उसके सामने बड़ी-बड़ी समस्याएं, बड़े-बड़े चमत्कार, आ सकते हैं और उसे उनके साथ निर्वाह करना चाहिए।

बाधाएं सामने आने पर कायरता दिखाने वाले व्यक्ति अपनी ही दृष्टि में गिर जाते हैं। तर्कहीन द्वंद्व से अंतरात्मा संतुष्ट नहीं होती। पलायनवादी प्रवृत्ति मार्ग में और बाधाएं ही खड़ी करती है।

मनुष्य के जीवन में सुरक्षा-जैसी कोई वस्तु नहीं है, उसे सावधानी से आगे बढ़ना है और गलत कदम पीछे हटाना है।

ग्रीक दार्शनिक एपिक्टेटस ने स्वयं से प्रश्न किया, "मनुष्य

इतनी समस्याओं के जाल में फंसा है, उसे क्या करना चाहिए ?" उसने स्वयं उत्तर दिया—"जो-कुछ हमारे अधिकार में है उसका अधिक-से-अधिक लाभ उठाओ और शेष को उसके स्वाभाविक रूप में ग्रहण करो।"

इसीलिए 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में प्रार्थना की गई है :

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।
(अध्याय ५, ब्राह्मण १५)

हिरण्य (स्वर्ण) के पात्र ने सत्य के मुख को ढंक लिया है। हे पालन-कर्त्ता, उस आवरण को हटा दो, जिससे सत्य स्पष्ट रूप से दिखायी दे सके।

जीवन का सौन्दर्य चेहरे की मुसकान में प्रतिबिम्बित होता है। मुख के भाव मन की बात को प्रकट करते हैं। यदि अपना मन सबल है, मनुष्य को कुछ भी छिपाना नहीं है, तो वह संसार और उसके सभी निंदा-बाणों का सामना कर सकता है। साहस-मिश्रित सौन्दर्य में लावण्य की गरिमा झलकती है और तब स्वभावतः मनुष्य अपनेपन की भावना अपने पर छाने का प्रयत्न करनेवाली किसी भी शक्ति के आगे उसे सिर नहीं झुकाने देती। बल से दमन का अधिकार नहीं मिलता, क्योंकि उससे मनुष्य के स्वतंत्र रहने का मौलिक अधिकार छिनता है और उस अधिकार को त्याग देना मनुष्य-पद को ही खो देना है। रूसो कहता है :

"स्वतंत्रता को त्यागना मनुष्य-पद को त्यागने-जैसा है।"

वेदांत तो और भी आगे जाता है। एक महावाक्य है—

'तत् त्वम् असि'—वह तू है अर्थात् तुम ईश्वर से अन्य नहीं हो। अत: जव तुम भय से या दीनता से किसी सांसारिक जीव के आगे सिर झुकाते हो तो अपने देवत्व का अपमान करते हो। अभद्र अधिकार में वेष्ठित किसी भी व्यक्ति के आगे निरंतर सिर झुकाते रहने से अंततः मनुष्य उस विन्दु पर पहुंच जाता है, "जिस बिन्दु पर अपमान कचोटना वंद कर देता है।"

(टी० एस० इलियट)

जीवन की गरिमा माधुर्य और शक्ति के सही मिश्रण में हैं। विनम्रता के राजकुमार ईसा मसीह ने अपनी महानता का परिचय उन लोगों को क्षमा करके दिया, जिन्होंने उन्हें दंडित कर सूली पर लटकवाया था।

सवलतम में भी इतना वल नहीं होता कि सदा उसीकी प्रभुता रही आये। रात्रि का वल उसके तमाच्छादित रहने तक ही है। प्रकाश की एक क्षीणतम किरण दिखायी देते ही वह भाग खड़ी होती है। आम अभाव के कारण समाज पर अन्याय-पूर्ण व्यवस्था छायी रही, जिसने सभ्यता की प्रगति को प्रभुता के साथ जोड़े रखा। परन्तु क्या यह अनिवार्य है? प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हर्बर्ट मारकस का कहना है कि ऐसा नहीं है। उसके अनुसार "प्रभुता सत्ता के न्याय-संगत उपयोग से भिन्न है।" मार्क्स का उल्लेख करते हुए वह आगे कहता है, "मार्क्स के अनुसार सच्चे समाजवादी शासन में वागडोर 'नीचे से' खिचनी चाहिए, देश के नेता केवल जनता के प्रवक्ता मात्र हैं।"

विगत अनेक वर्षों से मनुष्य के गौरव और गरिमा में वृद्धि

हुई है। वह उड़कर चन्द्रमा पर जा रहा है और अंतरिक्ष में अपने करतब दिखा रहा है। घटना-क्रम का विशेष महत्त्व दिखायी नहीं देता, क्योंकि यह क्रम काल से इतना सम्बन्धित नहीं है, जितना वास्तव में अंतरिक्ष में भूत के भविष्य के साथ, और भविष्य के भूत के साथ असम्भव सामंजस्य-जैसे सदा विद्यमान तत्त्व से सम्बन्धित है। मानव-स्वभाव का स्वतंत्रता-प्रेम परिभाषा से बदला नहीं जा सकता और न बदलेगा ही, यद्यपि कभी-कभी उसकी दिशा मुड़ सकती है। मनुष्य को अब तानाशाहों का कोई भय नहीं है; और निस्संदेह, मृत्यु तक की, भावनात्मक यातना न रहने पर यह भय होना असम्भव है। फिर भी, कभी-कभी बल से जो काम नहीं हो पाता, वह प्रेम जैसे सरल साधनों से हो जाता है।

२ | मुक्त मार्ग की मंजिल

सतत नये-नये विचार, नया ज्ञान, नये लोग, ये सभी सृष्टि की प्रकृति के बारे में हमारी विज्ञता में निरन्तर परिवर्तन कर रहे हैं। व्यक्ति पर इसका सीधा और निर्णयात्मक परिणाम यह पड़ रहा है कि अब कोई भी बालक उसी प्रकार की दुनिया में रहनेवाला नहीं, जिसमें उसके पिता और पितामह रह रहे हैं।

सहस्रों वर्षों से बच्चे अपने पूर्वजों के दिखाये मार्गों पर चलते रहे हैं। उन्हें सुस्थिर पथों पर चलने तथा संस्कारबद्ध जीवन जीने के लिए दीक्षित किया जाता रहा है और उन्होंने अपनी जन्म-भूमि तथा परिवार के साथ आन्तरिक सम्बन्ध कायम रखे हैं। आज न केवल अतीत से पूर्ण विच्छेद हो रहा है, वरन् बच्चे को एक अनजान भविष्य के लिए प्रशिक्षित करना भी अत्यन्त आवश्यक हो गया है।

यह सब न केवल हमारे युग की ज्वलंत विशेषता है, उसके रूप-परिवर्तनों का मूल भी है, क्योंकि जैसे-जैसे दुनिया हमारे सामने अधिक उजागर होती है, अनुभव की भूख भी बढ़ती है। परिवर्तन तथा नवीनता की लालसा है और चमत्कार की खोज है। इससे पुराने विश्वासों का क्षरण हो रहा है। उनका स्थान मिले-जुले विश्वास और शैलियां ले रही हैं। प्राचीन और

परम्परागत रूढ़ियों को तिलांजलि दी जा रही है। संस्कृति का यह मिला-जुला रूप भी इतनी तेजी से आज के जीवन की लय को निर्धारित कर रहा है, जिसमें मौजूदा दुनिया में अर्थ की खोज में परेशान अनगिनत व्यक्तियों की अशांति-भावना निहित है।

अतीत में सभी मानव-समाजों ने 'पावन' और 'अपावन' में भेद किया है, किन्तु हमारा युग निरपेक्ष है।

हमारे युग की एक दूसरी ज्वलंत विशेषता यह है कि जनता अपने सामाजिक 'निषेध' को स्वीकार करने के लिए और अधिक प्रस्तुत नहीं है। बुनियादी अर्थों में यह भावना व्यक्ति-वाद के ऐतिहासिक दावों से श्रेणी में नहीं, व्यक्ति की भांति समझने की मांग से विकसित हो रही है।

अत्यन्त उलझे, जनसंकुल राष्ट्रीय समाज में एक नया सामाजिक रूप प्रकट हो रहा है। इसे हम सामुदायिक समाज कह सकते हैं। इस सामुदायिक समाज की विशेषता न केवल परस्पर-निर्भरता में वृद्धि है, वरन् यह तथ्य भी है कि व्यक्ति के अभावों को पूरा करने के लिए अधिक-से-अधिक कार्य दल या सामु-दायिक साधनों के माध्यम से करने पड़ रहे हैं।

राजनीति के ऐसे दलगत आधार के फलस्वरूप लक्ष्यों और अधिकारों का संघर्ष होना स्वाभाविक है। व्यक्ति के मूल अधि-कारों पर आधारित परम्परागत सिद्धांत विवादों को सुलझाने के लिए सदा स्पष्ट नियम नहीं दे पाते और फिर व्यक्ति को भी जीवित तो रहना ही है।

किन्तु यह बात सहज समझ में आ जानी चाहिए कि हमारे

समाज के सामने जैसी समस्याएं हैं, उन्हें सुलझाने के लिए वर्तमान आर्थिक, राजनैतिक या सामाजिक संगठन पूर्णतः अपर्याप्त है।

आज के समाज-शास्त्र में एक ऐसी बहस छिड़ी हुई है, जो यहां व्यक्त विवादों की जड़ तक पहुंचती है। व्यक्ति पर आधुनिक समाज के प्रभाव का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया जा रहा है। एक ओर ऐसे लेखक हैं, जिनकी दृष्टि में आज का समाज नये विस्तारों, अधिक गतिशीलता और नये विचारों तथा नई संस्कृतियों की सम्पूर्ण उपलब्धियों के कारण व्यक्ति को अधिक अवसर प्रदान कर रहा है। एक समाज-शास्त्री का कहना है कि आधुनिक होने का अर्थ जीवन को विकल्पों, प्राथमिकताओं और अभिरुचियों के रूप में देखना है। दूसरी ओर ऐसे लेखक हैं, जिनकी दृष्टि में मानव पहले की अपेक्षा कहीं अधिक विच्छिन्न और अलग-अलग हो गये हैं।

आज के अधिकांश राजनैतिक और सामाजिक विवाद परिवर्तन की गति और रूप के बारे में चिन्ता से पैदा होते हैं। अनेक मामलों में, विरोध के साथ, ये प्रस्ताव भी आते हैं कि सरकार कुछ अधिक नियन्त्रण लागू कर व्यवस्था कायम करे। केन्द्रीय सरकार से यह आशा करना व्यर्थ है कि वह बड़ी मात्रा में लचीलापन तथा विकेन्द्रीकरण अपनाकर व्यक्ति की पूरी रक्षा करेगी।

पूर्णिमा की निस्तब्ध रात्रि में आकाश में पूर्ण चन्द्र अपनी छटा बिखेर रहा था। करोड़ों वर्षों से वह पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा है और इसमें कभी व्यवधान नहीं पड़ा। उसके ग्रहण

तक क्रमबद्ध होते हैं और उनकी भविष्यवाणी की जा सकती है। सृष्टि की घड़ी न कभी तेज चलती है, न धीमी। प्रकृति में सर्वत्र अद्भुत संतुलन और लय है। वह व्यवस्था और निश्चितता के अनुशासन में बंधी है। चन्द्रमा गुरुत्वाकर्षण के नियमों का पालन करता है; किन्तु मानव-जीवन के बारे में पूरी तरह कुछ भी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती; क्योंकि मनुष्य, केवल मनुष्य ही, अपने वातावरण में परिवर्तन ला सकता है या अपना भविष्य बदल सकता है। ईश्वर ने उसे अपनी इच्छा-शक्ति दी है और उसको खुला छोड़ दिया है। वह सोचने को स्वतन्त्र है। वह तन्त्र के अधीन है, पर वह तन्त्र है उसका अपना, स्वतन्त्र या स्वनियंत्रित।

दर्शन ही चिन्तन है। वह विज्ञान, धर्म तथा जीवन के बीच मानो पुल है। वह एक भावना है, एक अनुशासन है, सदाचरण है। वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सत्य की खोज है।

उच्च प्रशासनिक दायित्व के पदों पर आसीन लोगों में अपने निजी निर्णयों में अधिक विश्वास करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। वे स्थितियों का सर्वेक्षण करने और सही निर्णय लेने में दूसरों की अपेक्षा स्वयं को अधिक निपुण समझते हैं। दरअसल, यह उनका काम है। लेकिन जब जनता भी सम्बन्धित है, तो ये अधिकारी यह महसूस नहीं कर पाते कि इस विश्वास को प्रकट करने के लिए निर्णय की महज घोषणा पर्याप्त नहीं है। मुख्य कार्यकारी लोगों से यह आशा नहीं कर सकता कि वे उसके निर्णयों पर केवल इसलिए विश्वास करें, क्योंकि वे 'उसके' निर्णय हैं। उसे बताना चाहिए कि उसने किन प्रमुख

बातों को ध्यान में रखा है, जिससे लोग जान जायं कि उसने जो कुछ निर्णय किया है, वह सही है और प्रभावशाली नीति भी है। लोग लक्ष्य के बजाय साधनों के बारे में एक उच्च अधिकारी को कहीं अधिक छूट देने के लिए तैयार हो सकते हैं, किन्तु उन्हें यह महसूस हो जाना चाहिए कि उसके निर्णय और नीति में वे भी भागीदार हैं।

विंस्टन चर्चिल ने लोकतन्त्र की परिभाषा करते हुए कहा था, "उसमें दूसरे लोगों की राय पर निर्णय में सामंजस्य करने की प्रायः आवश्यकता होती है।" वह इस नीति को दूसरे युद्ध-कालीन नेताओं से ज्यादा भली-भांति समझते थे। जब परि-स्थितियों ने मोड़ लिया तब उन्होंने लोगों को जाकर समझाया कि क्या हो चुका है और क्यों ? उन्होंने अपने निर्णयों की सहज घोषणा करने के बजाय सावधानी तथा धैर्य से उन्हें समझाया और इस बात पर ज़ोर दिया कि जनता अपने निर्वाचित प्रति-निधियों के माध्यम से न केवल निर्णय करती है, बल्कि उत्तर-दायित्व में भी हिस्सा बंटाती है।

जब नीतियां और कानून जनमत से दूर पड़ जाते हैं या यह मान लिया जाता है कि जनमत तो उनके पक्ष में ही है, अथवा नेतृत्व जनता के मन को जीतने में असफल रहता है, तो उसका स्वाभाविक औचित्य समाप्त हो जाता है। तब जड़रहित वृक्ष की भांति लोकतांत्रिक परीक्षण एक अभिशाप बन जाता है। जो कुछ चल रहा है उसे बदलने में प्रकटतः निःस्वत्व जनता अपनी सरकार से खिंच जायगी। जब नीति बदल पाने की सम्भावना क्षीण होती है, तो वह प्रायः प्रदर्शन कर नीति को चुनौती

देती है। उसकी असमर्थता से या तो निष्क्रिय उपेक्षा या कहीं अधिक खतरनाक सीधी शत्रुता जन्म ले लेती है।

कुछ लोकनेता ऐसे होते हैं, जिनमें अपनी बात समझाने की आदत नहीं होती। वे घोषणा करते हैं, सिखाते हैं, अपील करते हैं और दलीलें देते हैं। लेकिन वे खुलकर अपनी बात नहीं कहते कि उन्होंने क्या किया है और उसके बारे में वे क्या सोचते हैं, क्या महसूस करते हैं। इस प्रकार आम वातावरण रहस्यपूर्ण बन जाता है, जो अवश्य ही संकट के समय मन का उत्साह नहीं बढ़ाता। राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से, संकट आने पर, लोग जानकारी न मिलने को सहन कर सकते हैं। किन्तु जिस क्षण वे समझ लेंगे कि रहस्य रहस्य बनाये रखने के लिए है, उसी क्षण उसे सहन न करने की भावनात्मक प्रतिक्रिया होने की सम्भावना है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि अमुक नीति को जनता चाहती है। इस तरह जन-मत लिया ही नहीं जाता, नेता का अपना मत ही जन-मत बन जाता है। सुकरात ने तो यहांतक कहा है—

"लोकमत से ही सच और झूठ का अन्तिम परीक्षण नहीं करते। एक सतत न्याय भी है और सच्चे लोग आत्म-ज्ञान और न्याय-बुद्धि से इसे समझकर इसका पालन करते हैं।"

युद्धोत्तर पीढ़ी के सामने दो ही विकल्प हैं—कम्युनिस्ट संसार के साथ सबका एकीकरण, अथवा अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए पूरा प्रयत्न करना। अपने समाज के रूप और अपने भविष्य का निर्णय करने का मनुष्य का अधिकार सर्वथा स्वाभाविक लगता है, और यह सकारण है। आत्म-निर्णय का सिद्धान्त वैदिक समाज में तो था ही, यूरोप में भी

वह प्राचीन यूनान में दासयुग के समय प्रतिपादित हुआ, मध्य-युग के प्रवुद्ध धर्म-ज्ञान और पुनर्जागरण द्वारा उठाया गया, 'संसदों की जननी' इंगलैंड द्वारा अमल में लाया गया, फ्रांसीसी क्रांति द्वारा उद्घोषित किया गया और उद्योग की स्वतन्त्रता की प्रेरणा के माध्यम से अर्थशास्त्र के क्षेत्र में उसका विस्तार किया गया। कम्युनिस्ट संसार भी उसके सभी आयामों को बन्द नहीं कर सकता; कार्ल मार्क्स तक का उसकी अनिवार्यता में विश्वास था। उनकी नई व्यवस्था किसी विशेष पूर्व व्यवस्था की भांति नहीं बनी, बल्कि उन्होंने उन प्रणालियों के अनुरूप समझी, जिन्हें अपने विचार से इतिहास के सामान्य नियमों में देखा।

व्यक्ति या समाज शाश्वत सत्य का निर्णय नहीं करते और समाज में परिवर्तन से सत्य नहीं बदलता। मानव के सत्य-बोध पर, वह क्या और किस प्रकार अनुभव करता है, सामाजिक परिवर्तनों का प्रभाव पड़ सकता है। भारी सामाजिक आलोड़न से समय शाश्वत समझे जानेवाले सत्यों की संख्या कम हो सकती है और इसलिए वे अधिक मूल्यवान हैं। वे अधिक निगूढ़ अनुभव किये जा सकते हैं और इसलिए वास्तविक जीवन में उन पर अमल करना अधिक दुस्तर है। अतः बदलते समाज के नये रूपों और निगूढ़, चिरन्तन सत्य के बीच मध्यवर्ती कड़ी बनाना आवश्यक है।

प्लेटो के अनुसार "लोकतन्त्र में स्वतन्त्रता राज्य की शोभा है और इसलिए लोकतंत्र में केवल प्रकृति का उन्मुक्त जन ही रहने का विचार करेगा।"

आत्मनिर्णय की, पहले भौतिक दमन से और फिर सामाजिक प्रतिबन्धों से मुक्ति की, यह भावना हमारी सभ्यता का प्रमाण-चिह्न है। जिस दिन यह भावना इस सीमा तक क्षीण हो जायगी कि हम अपना कार्य अपने से किसी बड़े व्यक्ति से कराने के लिए छोड़ दें, उसी दिन हमारी सभ्यता की कमर टूट जायगी, हमपर अपनी विफलता के ज्ञान का कलंक लग जायगा।

३ | 'तेज एव श्रद्धा'

"तेज ही श्रद्धा है"—शतपथ ब्राह्मण की इस सूक्ति में 'तेज' ज्ञान के अर्थ में आया है। सच्ची श्रद्धा ज्ञान से ही होती है। मलेरिया का रोगी, कड़वी होते हुए भी, श्रद्धापूर्वक कुनैन को फांक लेता है, क्योंकि वह कुनैन के गुण को जानता है। आर्य लोग यज्ञादि करते थे और द्रविड़ मूर्ति-पूजक थे। जब आर्य और द्रविड़ संस्कृति का मिश्रण हुआ तो तमिल के 'पू' शब्द से पूजा आर्यों ने भी ग्रहण कर ली।

इतिहासकार कहते हैं कि वेदों में भक्तिमार्ग का उल्लेख आता हो या नहीं, किन्तु यह निर्विवाद है कि भक्ति-सिद्धान्त का प्रभाव उल्लेखनीय नहीं था। भक्तिमार्ग के सिद्धान्त की विशेष चर्चा ईसा-पूर्व पांचवीं सदी में रचित पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' से पहले नहीं पाई जाती। पाणिनि ने 'वासुदेव' के प्रति भक्ति के सिद्धांत का समर्थन किया है। यह सिद्धान्त आगे चलकर और भी पुष्ट हो गया और आर० सी० मजुमदार का कहना है कि ईसा से दूसरी सदी पूर्व इसका प्रभाव बढ़ने लगा। यों तो कृष्ण का समकालीन करवीपुर का राजा शृगाल दो कृत्रिम हाथ लगाकर अपने-आपको वासुदेव कहता था और उसके राज्य में उसकी पूजा होती थी।

आगे चलकर 'वासुदेव', 'कृष्ण' या 'विष्णु' नारायण के रूप

में परम आराध्य देव माने जाने लगे। शतपथ ब्राह्मण की एक कथा के अनुसार तो नारायण और ही कोई पुरुष थे, जिन्होंने प्रजापति के कहने से तीन यज्ञ किये थे। विष्णु के मूर्तिरूप में वासुदेव की पूजा शायद पहली शताब्दी में ही शुरू हुई हो।

मथुरा के कुशान-वंश में राजा हविष्क के सिक्कों पर चतुर्भुज विष्णु की छाप पाई जाती है। इनके वंशज आगे जाकर वासुदेव भी कहलाने लगे। दक्षिण में कृष्णा जिले में प्राप्त द्वितीय शताब्दी के एक लेख में विष्णु-भक्ति का उल्लेख मिलता है। कहते हैं, सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय भागवत धर्म का पूरा भक्त था। लोग उसे परमभागवत के नाम से पुकारते भी थे। गुप्त-काल में भक्ति का प्रभाव ज़ोरों से बढ़ा।

यदि भक्ति से मुक्ति का होना माना जाय, तो यह इसलिए कि भक्ति से ज्ञान की अभिवृद्धि होती है। मुक्ति चाहे ऐहिक हो, अथवा आध्यात्मिक, बिना ज्ञान के सम्भव ही नहीं। गीता में कहा है, "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते", ज्ञान के समान पवित्र और कुछ नहीं है। यह स्पष्ट ही है कि जो मुक्ति के लिए ध्यान लगाता है, वह उस जाने हुए को और अधिक जानने का ज्ञान उपार्जन करना चाहता है। आध्यात्मिक शक्ति का होना तभी सम्भव है, जब उत्तम और पवित्र विचारों का मनन किया जाय। वैशेषिकों का मत है कि इस शक्ति का संचय इच्छा की प्रबलता, मनोविश्लेषण और अनुकूल वातावरण के प्रभाव पर ही निर्भर करता है।

आलडस हक्सले के मतानुसार हरेक व्यक्ति की वृत्ति के समान ज्ञान तो उसमें होता ही है और वृत्ति बहुत हदतक अपने-अपने

वश में ही होती है। सन्त वही है जो समझता है कि जीवन का प्रत्येक क्षण संकटमय है और ऐसा निर्णय करता है, जो उसे तमस् और मृत्यु से बचाकर प्रकाश और अमृतत्व की ओर ले जाय।

संकटों का सामना करने के लिए जैसे कोई सैनिक युद्ध के लिए तैयारी करता है, वैसे ही एक सन्त अपने मन और शरीर पर नियन्त्रण करता है।

आज के गणतन्त्रों में स्वतंत्रता और जिम्मेदारी को शिक्षा के साथ-साथ आतंक से पारतंत्र्य में ढाला जाता है। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री डा० माण्टेसरी ने लिखा है, "जो बच्चा आत्म-निर्भरता से स्वयं दायित्व वहन नहीं करता और अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण नहीं रखता वह प्रौढ़ होकर दूसरों के नियन्त्रण पर ही निर्भर करता है, और उनके चलाये ही चलता है। बच्चे को तर्क और न्याय के बिना कोई आज्ञा-पालन की शिक्षा देना उसे आगे जाकर पंगु और मतान्ध बनाना है।"

एकाधिपत्य राज्य, राजनीति को छोड़, शिक्षा और मनोविज्ञान द्वारा भी जमाया जा सकता है। सुग्गा बोली को तो दोहरा देता है, पर उसे समझता नहीं। ऐसे कितने महान् व्यक्ति हुए, जिन्होंने राजगद्दी पर बैठकर क्षतिकारक शक्ति से राज न चलाया हो। शक्ति पाकर उसका दुरुपयोग न हो, यह समस्या आजतक हल नहीं हुई है। राजकीय चमक-दमक और शक्ति के लोभ को दमन करने की कोई अचूक दवा नहीं मिली। शक्ति का स्वभाव ही अमर्यादित प्रसार का है। वह दूसरी शक्ति से टक्कर खाकर ही रुकती है। इसलिए जिसे स्वतन्त्रतापूर्वक

रहना हो, उसे अपनी शासन-शक्ति एक ही हाथ में नहीं दे देनी चाहिए।

कुछ समय पहले गणतन्त्र-दिवस पर रेडियो पर अपना संदेश प्रसारित करते हुए तत्कालीन राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् ने कहा था, "मनुष्य को संगठन से न दबाया जाय, सत्ता थोड़े-से हाथों में न रहे और प्रतिपक्षियों से घृणा करने की नीति हम न अपनायें। हम भारत को इसलिए प्यार करते हैं कि यहां सत्य और न्याय की पूछ है।"

जातीय एकता का अर्थ किसी एक मनुष्य की गुलामी और उसकी चौकड़ी का आधिपत्य भी हो सकता है। हक्सले का कथन है, "व्यवस्थित और संतुलित विभेद स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है। शक्ति की लालसा का कोई अन्त नहीं, इसलिए जिन्हें स्वतन्त्रता की रक्षा करनी हो, उन्हें शासक को लम्बे अर्से तक गद्दी पर नहीं रखना चाहिए।"

सौरोकिन नामक राजनीतिज्ञ लेखक के अनुसार, "राजनीति में कृत्य चाहे कानून, धर्म या नैतिकता के खिलाफ ही हो, वह उसे साध्य तक पहुंचने की साधना ही मान लेते हैं। शासकों की मुख्य विचारधारा के अनुसार नैतिकता के दो अलग-अलग मापदण्ड होते हैं। जो शासक के लिए मान्य है, वह शासित के लिए मान्य नहीं है।" कोई पूछे कि प्रजातन्त्र के शासक इस तरह का व्यवहार कैसे करते हैं ? फर्क इतना ही है कि प्रजातन्त्र के शासक कानून का सहारा लेकर ऐसे कृत्यों को साध्य के साधनों के रूप में दबा देते हैं।

जहां विचार-स्वातंत्र्य है, वहां कुछ लोग ऐसे मिल ही जाते

हैं, जो किंवदन्तियों के खिलाफ बुद्धि का व्यवहार करते हैं। ऐसे ही कतिपय लोगों के प्रयत्न से शासकों के रद्दोवदल करने की भावना पैदा होती है। देश के शासक या नेता स्वातंत्र्य-विचार को अपने लिए अक्सर घातक मानते हैं। उनके लिए यह जरूरी है कि उनके पक्ष के नारों पर कोई विवाद न उठे। उन्हें यही अच्छा लगता है कि उनकी शक्ति को अधिक प्रचुर करने के लिए उन नारों को और भी पूर्णतया काम में लाया जाय। आम लोग वचपन से ही प्रचार की बातें सुनते रहते हैं। कहीं-कहीं स्कूलों में किताबें भी ऐसी ही पढ़ाते हैं और जब वे विद्यार्थी बड़े होकर काम पर आते हैं तो उन्हीं नारों से भरे अखबार पढ़कर और रेडियो सुन-सुनकर अपनी खुद की युक्ति भूल जाते हैं।

प्रजातन्त्र में माना जाता है कि सवको वाक्-स्वातन्त्र्य है और वे चाहे जो पूछ सकते हैं। पर दूसरे तरीकों से ऐसे प्रश्नों के दांत उखाड़ लिये जाते हैं। लोगों को वाहरी अविच्छिन्न उत्तेजना पर निर्भर करना सिखा दिया जाता है। नतीजा यह होता है कि लोग प्रचारात्मक वातों में पड़कर बुद्धि का उपयोग ही वन्द कर देते हैं।

जो विवेचन से काम नहीं लेते, उनकी बुद्धि भटकती रहती है और अपने साध्य से हटकर दूर चले जाते हैं। हो सकता है कि बहस में वे होड़ मार ले जायं, पर सत्य से काफी दूर पड़े रहते हैं। विश्लेषण खोकर मनुष्य एकाग्र बुद्धि से विचार करना छोड़ देता है और दिखावट में पड़ा रह जाता है।

इसलिए जरूरी है कि शुरू से बिना विवेचन और तर्क के प्रचारात्मक बातें न मानने की आदत डाली जाय। आम तौर

पर हम सुनते हैं कि अमुक काम जनता की भलाई के लिए किया जाता है। चाहे व्याख्यान हो, चाहे अखबार, पर जनता के नाम पर दुहाई दी जाती है। किन्तु यह 'जनता' है कौन ? कहां तक सबको 'एक जनता' के नाम से मिलाना सही है ? जनता की एक ही राय होना भी क्या सम्भव है, और भलाई उन नारों से सचमुच जनता की होती है या यह शासक का ही मानना है ? सांवल, मंगतू, मनसुख से क्या राज्य एक अलग अनोखी वस्तु है ? क्या 'जय छाता' बोलने से वर्षा से बचाव हो सकता है ? यह आवश्यक है कि ऐसे नारों के बदले नारा लगाने वालों की कृतियों की तस्वीर बनाकर समझा जाय कि वह दृश्य कैसा लगता है। केवल नारों में चित्रित काल्पनिक सुखों से ही कोई सुखी नहीं होता।

'जय रामदास' चिल्लाने से कोई सन्त रामदास नहीं बनता, और न 'गीताजी' की आरती उतारने से गीता का सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है। श्रद्धेय के प्रति सच्ची श्रद्धा उसके गुणों और दोषों का विवेचन करके ही होती है। अन्ध-श्रद्धा से किसीका भी भला होना असम्भव है।

४ | सब सुखी रहें

प्राचीन भारत का सांख्य दर्शन मनुष्य को "दु:ख के पूर्ण उन्मूलन" के लिए परम पुरुषार्थ करने का आदेश देता है। आधुनिक अमेरिका के लोकतांत्रिक सिद्धान्त में घोषणा की गयी है कि स्वतंत्रता का महत्व "सुख की प्राप्ति" के लिए अनुकूल परिस्थितियों में योगदान करने में है। वास्तव में, मानव-सभ्यता की दीर्घाओं में एक आवाज जो निरंतर गूंजती रही है, वह है दु:ख से मुक्ति की कामना की। सुख की खोज, सुख की भावना से प्राप्त, सुख की दृष्टि से संचालित, मनुष्य के परम लक्ष्य पर छायी हुई है।

इसका कारण जीवन को कल्याण की भावना से—आत्मा के, व्यक्तित्व के, मन के, शरीर के कल्याण की भावना से—ढालना है। आनन्द के स्रोत की प्राप्ति जीवन की प्रेरक शक्ति है। आनंद के स्रोत तक पहुंचने में जो-कुछ बाधक है, अथवा बाधा डालता दिखायी देता है, उस सब पर नियंत्रण करना इस शक्ति का उद्देश्य है। वह जीवन और मृत्यु के बीच के रंगीन इन्द्रधनुष से टकराती रहती है। उपनिषद् का कहना है, "सम्पूर्ण जीवन की उत्पत्ति आनंद से हुई है। वास्तव में, जीवन की ज्योति ही जीने का आह्लाद है।" गीता में तो यहांतक कहा गया है, "मोह-भावना से आत्म-उत्पीड़न सहित किये गए तप 'तामस'

कहलाते हैं।" (श्लोक १६, अध्याय १७)। वंचना में धर्म का उत्कृष्ट रूप प्रकट नहीं होता। गुलाव में कांटे होते हैं। उनका गुण उसकी रक्षा करना है। किन्तु गुलाव का वास्तविक आकर्षण उसकी पंखुड़ियों की रंगीन सुगन्ध में है।

जीवन की शक्ति वस्तुओं को आनंद के रूपों में परिवर्तित करने में, कष्टों को सुख के रंगों में रंगने से, सिद्ध होती है। अंग्रेजी कवि पोप की ये पंक्तियां एकदम हृदय को छू लेती हैं :

"हे सुख, तू हमारी सत्ता का निष्कर्ष और लक्ष्य है। सद्, आनंद, विश्राम, संतोष, तेरा कुछ भी नाम हो।"

विषाद जीवन का शत्रु है। वह मन की अस्वस्थता है, जिससे शक्ति नष्ट होती है और विपत्ति आती है। इसके विपरीत, दु:ख को जीतना सर्वोच्च विजय है। जिसके मन में अपने दु:ख पर विजय पाने की क्षमता है, वह ऋषि है, जिसने न केवल अपने वरन् मनुष्य-मात्र के दु:खों को जीतने की क्षमता प्राप्त कर ली है, वह संत है। भगवान बुद्ध ने सभी मनुष्यों को दु:ख पर विजय प्राप्त कर सकने का मार्ग दिखाया। ईसा मसीह को मनुष्य के 'दुखों पर विजय' का प्रतीक माना गया। दूसरों के दु:खों को अपने ऊपर लेकर, गर्व-द्वेष से रहित होकर, कष्टों को शांतिपूर्वक हर लेने के आनन्द में निमग्न होना महान् जीवन की कला है और इस कला में संकीर्णता के लिए कोई स्थान न होने से सार्थक सुख में सभीका भाग होना ही चाहिए। एकान्तिक सुख स्वार्थ है। दूसरों के दु:ख की प्रतिक्रिया होती है। कहीं भी अंधेरा कोना हो, विषाद का स्थल हो, अथवा संघर्ष का क्षेत्र हो, रोग का यह ऐसा कीटाणु है, जिससे छूत फैलना और

मानवता के स्रोतों का विषाक्त होना अनिवार्य है। इसीसे महाभारत में जगद्-व्यापी सामंजस्य की प्रार्थना की गयी है :

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

सभी सुखी हों, सभी मन व शरीर से स्वस्थ हों, सभी एक-दूसरे का भला चाहें, दुःख किसीके भाग्य में न हो।

यह महाप्रार्थना जन-जन के मन में स्पन्दित हो रही है और मूल समस्या—कही या अनकही—क्या है ? वह कौन-सी वस्तु है, जो सुख को उसकी वास्तविक चमक, उसका वास्तविक आकर्षण, उसका भावनात्मक रस प्रदान करती है ? मानसिक सुख की भी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी भौतिक सुख की। भौतिक सुख के लिए प्रथम आवश्यकता अभाव से मुक्ति की है। महाभारत में स्पष्ट कहा गया है, "पंच महादुःखों में अभाव सबसे अधिक क्षतिकारी है, और उसके बाद जीवन-निर्वाह तक के लिए अत्यंत कठोर श्रम करना है।" आज भी अटलांटिक घोषणा-पत्र में प्रतिज्ञापित 'चार मुक्तियों' में अभाव से मुक्ति को सम्मिलित करना बहुत महत्त्वपूर्ण है। अभाव के विरुद्ध अभियान आज के स्वतन्त्र विश्व का अभियान है।

जीना तभी अच्छा लगता है, जब वह भयकारी अग्नि-परीक्षा न बने। भौतिक साधन महत्वहीन नहीं हैं, क्योंकि अभाव मनुष्य की सारी शक्ति को सोख लता है और उसमें मन के अभौतिक आनंदों की अनुभूति कर पाने की प्रवृत्ति भी नहीं रहती। मन ही मनुष्यों को प्राप्त वह अद्वितीय उपहार है, जो उसे पशु-संसार में एकांतिक विशिष्टता प्रदान करता है, जो उसे

सृष्टि में सम्मानजनक स्थान दिलाता है, जो अबतक विकास-प्रक्रिया में अन्तिम शब्द का द्योतक है। मन ही मनुष्य को सृष्टि-रंगमंच का मुख्य अभिनेता बनाता है।

और, अभाव से मन क्षीण होता है, बुद्धि का ह्रास होता है, उसकी अंतर्ज्योति पर कुहरा तथा धुंआ छा जाता है, उसे क्षुद्र बना देता है और उसके आन्तरिक सौंदर्य को हर लेता है। तब हमारा पहला संघर्ष अभाव के विरुद्ध होना चाहिए। किन्तु ऐसा करते हुए हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस युद्ध के धर्मयुद्ध न रहने पर मनुष्य की प्रतिष्ठा गिर जाने का संकट है। युद्ध की दिशा को इस आशा के साथ नियंत्रित करना है कि व्यक्ति की युग-चेतना मनुष्य की मुक्ति के क्षेत्र का विस्तार कर सकेगी।

मानव-जीवन परिवर्तनशील है, 'जहाज के पंछी' की तरह वह एक वल्ली से उड़कर दूसरी वल्ली पर जा बैठता है। इसका कोई ज्ञात कारण नहीं है, सिवाय इसके कि मानवीय विश्व-रचना के परिदृश्य में सदा समय का माप नहीं रहा है। युग सिमटकर दुःख का एक क्षण बन गये हैं, अथवा दुःख का एक क्षण युगों लम्बा हो गया है। बिना मौत आये कोई नहीं मरता, किन्तु मरण के कष्टों का अनुभव अनेक बार हो सकता है।

केवल स्वतंत्र मन से ही सुखी मन हो सकता है और सुख का निर्माण किसी सरकारी विभाग के द्वारा नहीं किया जा सकता। उसका निर्माण सुख की खोज करनेवाले और इस लक्ष्य की प्राप्ति में अपने निजी साधन जुटानेवाले व्यक्ति ही करेंगे। दूसरे लोग तो, जिनमें सरकार भी है, इस प्रयत्न में सहायता ही

दे सकते हैं। 'सद्-जीवन' के विचार नैतिक और सौंदर्य-परक दोनों स्थिर नहीं रहेंगे। अनेक अस्थायी निर्णय करने होंगे, परीक्षण करने होंगे और उद्देश्यों तथा प्राथमिकता, निष्कर्षों तथा संदर्भों की निरंतर तुलना करनी होगी।

ऐसा हो सकता है कि कभी-कभी लोग स्वप्नों को सुख समझने के छल में आ जायं। लोग तो इस वात के लिए बने हैं कि जो कुछ दिखाया जाय उसीकी खोज करते हुए, उसीको देखते हुए, चलते चले जायं, यद्यपि वे परम सामंजस्य की खोज करते हैं। क्षणिक भावना स्वप्न की भांति ओझल हो जाती है। एक अन्य मोह या भ्रम सत्य दिखायी देने लगता है। उसे भी नष्ट होना ही है। फिर भी शासक-वर्ग भावी विश्व का मात्र काल्पनिक सुनहला रूप खींचते रहते हैं। उनका उद्देश्य लोगों को वास्तविकता के प्रभाव से अलग रखना होता है। नकारात्मक सिद्धांत अपनाकर वे एक भूली-बिसरी रचना के सारे सौंदर्य का चित्र खींचते रहते हैं। अंततः आत्म-ज्ञान के अनुभव से वचने के लिए उनका यही ढंग है। जीवन उनके लिए एक प्रकार का जुआ है। वे उन भ्रमों को पालते रहते हैं, जो कदाचित् यथार्थ से अधिक सुन्दर और अधिक पूर्ण हैं, और जो-कुछ के विचार से कानून है। उनका अपना अस्तित्व-मात्र मृग-तृष्णा-वत् है और इसलिए वे दूसरे लोगों की मृग-तृष्णाओं का आदर करना सीख लेते हैं। लोग भूले अतीत और झूठे भविष्य के वीच फंस जाते हैं।

ज्ञान ही, जिसमें विज्ञान भी है, मनुष्यों का सही दृष्टिकोण है। वह सबकुछ जानने को स्वतंत्र है। ज्ञान ही स्वयं पर शासन

करने की शक्ति है। यंत्रवत् केन्द्रीय निर्देशन से समानता पैदा होना आवश्यक नहीं है।

अनेक लोगों ने अमरीका में एक भारतीय पर्यटक के हाल में एक अनुभव के बारे में सुना होगा। यात्रा-पत्रों को दर्ज कराते हुए उसने विमान-कम्पनी को सूचित किया कि वह शाकाहारी है। यह सूचना परिकलक यंत्र (कम्प्यूटर) को दी गई और फिर परिकलक यंत्र से कार्यकारी शाखा को हिदायतें मिल गईं। लेकिन विमान में भारतीय यात्री को भी वही खाना मिला, जो दूसरों को दिया गया था। उसने परिचारिका का ध्यान इस ओर खींचा, जो प्रबंधक को बुला लायी। प्रबंधक ने जब विस्तृत हिदायतों पर दृष्टि डाली, तो पता चला कि परिकलक यंत्र ने कहा था, "अब शुक्रवार को मांस खाया जा सकता है।" एक विख्यात अंग्रेजी लेखक ने एक बार कहा था, "असमान परिस्थितियों में समानता असमानता है।" किसी भी व्यापक रूप से मान्य प्रणाली में ऐसे निश्चित, बने-बनाये मान-दंड नहीं हैं, जिनसे क्षमताओं का मूल्यांकन किया जा सके।

आज का समाज जीवन को इतने भावनात्मक कोण से नहीं देखता। शांत-स्वभाव अर्थ-शास्त्रियों का कहना है कि मुद्रा का सभी दिशाओं में और सभी वर्गों में प्रचलन होना चाहिए। तर्क दिया जाता है कि मानव अनुमान के अनुसार मानव को उसकी न्यूनतम आवश्यकताएं पूरी करने भर को तो मिलना ही चाहिए। इस तर्क का कारण केवल अंतरात्मा या भावना ही नहीं है, वरन् यह आशंका भी है कि बढ़ता हुआ अभाव समाज पर छा जायगा। प्लेटो का गणराज्य, मूर का आदर्श लोक, मार्क्स का सर्वहारा-

वर्ग (सिद्धान्त), मानव-सम्बन्धों में अधिक सामंजस्य लाने के लिए समाज के पुनर्गठन में तत्पर है। अभाव केवल निर्धनों की ही समस्या नहीं है, वह धनिकों की भी समस्या है, जिसे उन्हें अर्थ-व्यवस्था के साधनों और आध्यात्मिकता की भावना से सुलझाना है। इसी प्रकार विकसित देश साथी राष्ट्रों के आर्थिक पिछड़ेपन की उपेक्षा नहीं कर सकते। आज की दुनिया इतनी संगठित हो चुकी है कि एक दूसरे को नहीं भुला सकता।

कभी-कभी त्रुटियां होना सम्भव है। किन्तु सच्चाई से त्रुटि का होना स्वतंत्रता का अंग है। यदि कोई अपनी त्रुटियों के प्रति सचेत है तो उसने कितनी गलती की, यह महत्त्वहीन है। आवश्यकता तो सब ओर से शक्तियों को मुक्त करने की है।

प्रगति का संकेत मतभेदों के प्रति आदर से मिलता है। राजनैतिक नियमों और आर्थिक नियमों में एक दूसरे के प्रति सच्चा और उदार आदर होना चाहिए। सच्चा और पूर्ण सुख राजनीति और अर्थ-शास्त्र के वीच सूक्ष्म संतुलन वनाये रखने से ही प्राप्त हो सकता है। दोनों अपने तथ्यों पर आधारित हैं और दोनों को उन कल्पनाओं से मुक्त किया जाना चाहिए, जो दोनों को ही भ्रम में डालती दिखायी देती हैं। दोनों अपने-अपने ढंग से तर्कसंगत और व्यवहार्य हैं। किसी भी दशा में, हठधर्मिता नहीं होनी चाहिए और अर्थ-शास्त्र तथा राजनीति के बीच निरंतर आदान-प्रदान होते रहना चाहिए, जिससे वे एक दूसरे के लिए व्यापक उपलब्धि में सहायक हों और किसीके अंतर्जात सिद्धान्तों का उल्लेख न करें।

इसके लिए आवश्यकता ऐसा निर्णय करने की है, जिससे

वस्तुओं को उनके सही परिपेक्ष्य में देखा और ढाला जाय तथा उद्देश्य की एकता प्राप्त की जाय, जिससे सभीको संतोष हो और किसीका बलिदान न हो। किसी भी स्वस्थ एवं लाभकारक निर्णय में स्वतंत्रता तथा विचार का समन्वय आवश्यक है। विचार-रहित स्वतन्त्रता से उछृंखलता या मूढ़ता पैदा होती है, और स्वतंत्रता-रहित विचार या तो जड़ होता है या त्रुटिपूर्ण। फलदायक प्रभाव के लिए स्वतंत्रता का उपयोग विचार के साथ तथा विचार-स्वतंत्रता के साथ किया जाना चाहिए। मन का धर्म सोचना है और मनुष्य का स्वतंत्रता, अतः सफलता का मार्ग स्वतंत्र चिन्तन से ही है।

मनुष्य को अपनी समस्याएं सुलझाने के लिए प्रेरणा-स्रोतों का विकास करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। लोकतंत्र और स्वतंत्रता एक सरल मान्यता पर आधारित हैं, सही ढंग से सूचित जनता का बहुमत उचित निर्णय करेगा। तथापि, आज और प्रतिदिन, बड़ी संख्या में लोग शिकायत करते हैं कि सरकार बहुत अधिक अधिकार अपने हाथों में ले रही है। हमें और हमारी संतति को सैकड़ों महत्त्वपूर्ण ढंगों से प्रभावित करने-वाले बड़े-बड़े निर्णय, निश्चय ही, सही ढंग से सूचित मतदाताओं के बहुमत द्वारा नहीं किये जाते, वरन् उन पदारूढ़ व्यक्तियों द्वारा किये जाते हैं, जिनके चुनाव में जनता ने सचेतन भाग नहीं लिया है। अधिकतर, नीति-निर्माताओं ने कल्याण-कार्यक्रम की अपनी धारणाओं से करोड़ों व्यक्तियों को भरमाया है। समय निकट है, जबकि ज्ञात यथार्थ का ऐसा अज्ञान मतदाताओं को एकमात्र अवशिष्ट साधन अपनाने को बाध्य कर देगा, बिना

सोच-विचारे भावना से काम करने का। विख्यात अमरीकी लेखक फिलिप वायली का कहना है, "केवल ईश्वर (और शैतान) को ही लोगों के जीवन से खिलवाड़ करने का अधिकार प्राप्त है।" साथ ही, हमें अपना प्रचीन मंत्र याद रखना चाहिए, "प्रजा विष्णुः।" और उस दशा में हमें आशा करनी चाहिए कि जनता अपनी सही स्थिति से परिचित होकर राजनैतिक रूप से सही और आर्थिक रूप से भी तर्क-संगत जीवन-दृष्टि अपनायेगी।

जनता एक समूहवादी शब्द है। इसका अर्थ है सम्पूर्ण जनता। समान उद्देश्य से, समान उपलब्धि से, संगठित जनता—जो अपनी प्रकटतः अनेकता से विचलित नहीं होती वरन् अपनी अन्तर्जात एकता से अनुप्राणित है। तब मैं, उपनिषद् के महान् शब्दों में, प्रार्थना करता हूं, "सः नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु।" (श्वेताश्वतरोपनिषद्)—भगवान् हमें शुभ बुद्धि दे। हमारे मत हमें विभाजित न करें, सभी समान उपलब्धि के लिए अपने धर्म का पालन करें, वे अंतर्-विरोध के बिना विभिन्न गुणों का आदर करें। सुख का विवेकपूर्ण आधार ही सही आधार है, और इसका अभी निर्माण किया जाना है। कहीं ऐसा न हो कि दुःखों का भार असावधान जनता को कुचल दे। नेता भले ही असफल हों, स्वयं जनता को असफल नहीं होना चाहिए। उसकी स्थिति ऐसी नहीं है कि वह असफल होना सहन कर सके।

५ | 'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः'

प्राचीन वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार मानव एक पशु है। जिस शरीर में वह वास करता है, वह आदिम है। जावा के अर्ध वानर और अर्ध मानव के बाद, जिसका आविर्भाव कम-से-कम एक लाख वर्ष पूर्व हुआ था, वह लगभग ४० हजार वर्ष पुराना पड़ चुका है। मानव संसार का एक सबसे बड़ा हिंसक पशु है। वैज्ञानिकों के ही अनुसार वह अन्य पशुओं को और 'युद्ध' नाम के खेल में अपने सजातीयों को भी, सताने और मारने में मौलिक आनन्द प्राप्त करता है।

किन्तु उसके पास जो कुछ है, वह जो कुछ है, उसका श्रेय उस बौद्धिक नियन्त्रण को है, जो घोड़ा दबानेवाली उंगली को थामे हुए है। मानव-रूपी इस पशु ने जो भारी प्रगति की है, उसके बावजूद उसकी एकमात्र जैव विशेषता, उसके मस्तिष्क के विकास के अनिश्चित इतिहास को बहुत-कुछ समझना शेष रहता है और इस शक्तिशाली अंग ने ही उसे संसार का सर्वोच्च शासक बना दिया है। सोफोक्लीज़ ने कहा है, "आश्चर्य अनेक हैं, पर मानव से अधिक आश्चर्यकारक कोई नहीं है।"

मानव मन में वैषम्य को तादात्म्य में बदलने की अजेय प्रवृत्ति है। हमारी ज्ञानेन्द्रियां तत्काल जो कुछ ग्रहण करती हैं, वह विविधतापूर्ण और अनेकरूपा हैं। समाधान की भूखी और

प्यासी हमारी बुद्धि इस वैषम्य को तादात्म्य में बांधने का प्रयास करती है। हम किसी भी ऐसे सिद्धान्त से गहरा सन्तोष प्राप्त करते हैं, जो अनेकता को एकता में, व्यापक और मायावी तथ्यों को सुगम एवं बोधगम्य प्रणाली में, असंयमित अविवेक को विवेकपूर्ण नियमन में बांधने का प्रयत्न करे, जिससे ज्ञान सार-भूत होकर परिभाषा तथा चिन्तन का नियम बन जाय। इस आधारभूत तथ्य से ही विज्ञान का, दर्शन का, धर्म का, अस्तित्व है। यदि हम वैषम्य को तादात्म्य में बांधने का प्रयास न करें तो हमारे लिए चिन्तन करना ही प्रायः असम्भव हो जायगा। फिर तो संसार में मात्र अराजकता, परस्पर असम्बद्ध प्रपंचों की विश्रृंखलित कड़ी रह जायगी।

विचार की पुंजीभूत शक्ति इतनी प्रबल कही जाती है कि वह कुछ भी कर सकती है। पुराणों में राजा नहुष की कथा आती है। इन्द्र की रानी शची पर मोहित होकर उसने उससे प्रणय निवेदन किया। उसका नाश करने के उद्देश्य से रानी ने यह शर्त रखी कि वह अपनी पालकी सप्तर्षियों से उठवाकर लाये। नहुष ने सप्तर्षियों को अपनी पालकी ढोने का आदेश दिया, किन्तु मार्ग में अधीरतावश उसने कहा, "सर्प, सर्प," अर्थात् शीघ्र चलो, शीघ्र चलो। लेकिन 'सर्प' का अर्थ सांप भी होता है, सो एक ऋषि ने उसे शाप दे दिया, "जा, सर्प हो जा" और नहुष तत्काल सर्प बन गया।

हम ऐसी प्रतीकात्मक गाथाओं में आज विश्वास भले ही न करें, लेकिन ऐसे वैज्ञानिक भी हैं, जिनका कहना है कि वे केवल विचार-शक्ति से ही दूर रखी भौतिक वस्तुओं की गति पर

नियन्त्रण कर सकते हैं।

चैकोस्लोवाकिया के श्री राबर्त पावलीता का ऐसा ही दावा है। कुछ समय पूर्व चैकोस्लोवाकिया के एक युवक और अत्यन्त अग्रदर्शी वैज्ञानिक, विद्युत क्रियाविज्ञान के शिक्षक, डा० वैसेले ने भौतिक विज्ञान संस्था के एक इंजीनियर श्री जीरी मात्स्कू के साथ मिलकर एक अत्यन्त मायावी मशीन बनायी। उसके निर्माण में उन्हें तीन वर्ष लगे। पहली दृष्टि में मशीन काफी सीधी-सादी दिखायी देती है, सुई की नोक पर सधी हुई और घूमती हुई कागज जैसे पतले तांबे की एक हवा-सी हल्की परत।

किन्तु यन्त्र इतना मायावी था कि उसमें दुर्घटना, संयोग या छल का कोई सन्देह नहीं किया जा सकता था। मशीन को वाहरी भौतिक हस्तक्षेप से दूर रखने के लिए पूरी सावधानी वरती गई थी। सुई को घुमानेवाला बिजली का मोटर चुम्बकत्वरहित था, जिससे तांबे की चक्कर खाती परत पर उसका कोई प्रभाव न पड़ सके।

यन्त्र को विसंक्रमित अचुम्बकीय दीवारों वाली पेटी में रखा गया। तांबे की परत के चक्कर फोटो इलेक्ट्रिक प्रक्रिया से गिने गये और दर्ज किये गए।

मशीन से छः फुट दूर बैठकर श्री पावलीता ने अपनी दृष्टि घूमते हुए तांबे पर जमायी और उसके रुकने की इच्छा व्यक्त की।

डा० वैसेले के अनुसार श्री पावलीता दस में से छः बार तांबे की परत की गति धीमी करने या रोकने में समर्थ रहे।

चैकोस्लोवाकिया के ही ब्रातिस्लावा नगर से एक अन्य चमत्कारी परीक्षण की पुष्टि का समाचार मिला है। वहां एक व्यक्ति ने ध्यान योग से द्रव में तैरती हलकी वस्तुओं को पूर्व निर्धारित दिशा में गतिमान करने का दावा किया है। जिस व्यक्ति का यह आश्चर्यजनक दावा है, वह कोई शौकिया नहीं है। वह है प्रसिद्ध भौतिक वैज्ञानिक डा० जूलियस क्रेम्स्की।

कुछ व्यक्ति भविष्य की बातें भी बताते हैं। आम ढंग से जानकारी एकत्र कर और जानकारी से सम्भव, अधिक सम्भव, और अधिक सम्भव से अत्यन्त सम्भव, घटनाओं का अनुमान लगाने के ढंग से नहीं, किन्तु कुछ व्यक्तियों को कुछ भावी घटनाओं की पूर्व दृष्टि की विशेष शक्ति प्राप्त होती है।

परन्तु मानव को मस्तिष्क की ऐसी शक्ति क्यों प्रदान की गई है ? अवश्य ही, मस्तिष्क को अपनी स्वाभाविक मौत मरने देने के लिए नहीं या अकर्मण्यता से उसमें जंग लगने देने के लिए नहीं। सिसरो का कहना है, 'आत्मा सदैव कुछ-न-कुछ करने की इच्छा करती रहती है।' अंग्रेजी भाषा में एक सुन्दर शब्द है 'स्लाथ'—आलस्य। अंग्रेज आलस्य को भी विवाह के सात घातक पापों में से एक पाप मानते हैं। इसका अर्थ है, 'निरुद्योग—कुछ नहीं करना' या अकर्मण्यता में समय बिताना। आलस्य वास्तव में न केवल वैवाहिक, वरन् मानवता के विरुद्ध पाप है। जब अकर्मण्यता उदासीनता का रूप ग्रहण कर लेती है, तो यह एक खतरनाक भ्रम बन जाता है। इसके विपरीत, कर्म अनुशासन है, जो भौतिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य के लिए अच्छा है। कुछ विचारकों का कहना है कि क्योंकि कर्म स्वार्थ

से प्रेरित होता है, अतः कर्म से प्रेम का अर्थ स्वयं से प्रेम होता है। इस मिथ्या विचार का विरोध करते हुए 'गीता' में कहा गया है, "केवल अकर्मण्यता से ही कोई सांसारिक स्वार्थों से परे नहीं होता।"

विगत में, किसी एक व्यक्ति के जीवन में अधिक परिवर्तन हुए बिना, मानव की परिस्थिति में विशाल परिवर्तन हो गये हैं। जैसे किसी पीढ़ी को पता चले बिना ही भाषा अत्यन्त सीमित रूप से विकसित होकर समृद्ध तथा जटिल रूप ग्रहण कर सकती है। जब सुस्थिर समाजों को परिवर्तन की जानकारी होती है, तो प्रायः सदा ही वह कोई विशेष परिवर्तन होता है, जिसका जीवन के एक अंश पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है और कुछ दूसरे अंशों में महज़ हेर-फेर की आवश्यकता होती है। पूर्व-सन्तुलन में यथा-शीघ्र फिर से व्यवस्था स्थापित हो जाती है। नैतिक और सौन्दर्यबोधी, दोनों अर्थों में उपयोगी जीवन के विचार स्थिर नहीं रहेंगे। जो नवीन है, वह इसलिए नवीन नहीं है, क्योंकि वह पहले कभी नहीं रहा, बल्कि इसलिए, क्योंकि उसके गुण में परिवर्तन हो गया है। व्यवस्था और अधिकार तथा सत्य और सौहार्द के लिए मानव की खोज जारी है। निरपेक्ष सत्य का निर्णय न तो व्यक्ति करते हैं और न समाज, और समाज में परिवर्तन से सत्य बदलेगा नहीं। समाज के हर वर्ग के लिए निर्धारित कार्य विशेष यथावत् रहेगा।

गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं :

> नियतं कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
> शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८-३॥

"तू शास्त्रविधि से नियत किया हुआ स्वधर्मरूप कर्म कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है, कर्म न करने से तो तेरा शरीर निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा।"

अतीत में एक सुस्थिर समाज के अधिकांश सदस्य प्रायः अनजाने में वह सबकुछ ग्रहण कर लेते थे, जो अपने चारों ओर के जीवन के बारे में जानने के लिए, उनके लिए आवश्यक था। शिक्षित व्यक्तियों का एक छोटा वर्ग चेतनापूर्वक सुयोजित ज्ञान भण्डार का भागीदार होता था। संक्षेप में, जीवन के एक पक्ष को दूसरे पक्ष से सम्बद्ध करने के लिए सुस्थिर समाज के कुल उद्यम के एक छोटे अंश को ही उसमें लगाने की आवश्यकता होती थी। यह बात अब बदल चुकी। समाज के सभी अंग गतिमान हैं और अधिकांश लोग गतिमान हैं। वे काम बदल रहे हैं, आवास बदल रहे हैं, परिचय बदल रहे हैं, समस्याओं से जूझ रहे हैं और ऐसे अवसरों के पीछे भाग रहे हैं, जिनके बारे में उनके पूर्वजों ने कभी सुना भी न था। हमारे सामने इस बात का प्रमाण प्रचुर मात्रा में पहले ही विद्यमान है कि भविष्य में अधिक काम और अधिक परिश्रम करना होगा, क्योंकि हमारे सामने उग्र संक्रमण की जो परिस्थितियां हैं, वे ऐसी नहीं कि वैज्ञानिकों, अर्थशास्त्रियों या धर्माचार्यों का एक छोटा वर्ग उन्हें सम्हाल सके। हम उस ओर बढ़ रहे हैं, जिसे 'जन नेतृत्व' कहा जा सकता है।

'गीता' में इसे बहुत स्पष्ट किया गया है :

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३-४॥

"हे पार्थ, सम्पूर्ण यावन्मात्र कर्म ज्ञान में शेष होते हैं, अर्थात्

ज्ञान उनकी पराकाष्ठा है।

ज्ञान के अनुरूप जीवन-यापन को 'ज्ञान-यज्ञ' कहते हैं। यह यज्ञ मानसिक है और विवेक की सहायता से सम्पन्न होता है तथा स्वभावतः सम्पत्ति-यज्ञ से अधिक श्रेष्ठ समझा जाता है।

हाल के वर्षों में भारी सामाजिक उथल-पुथल के प्रतिक्रिया-स्वरूप अनेक व्यक्ति निरपेक्ष सत्य द्वारा निरूपित ध्यान-योग की ओर मुड़े हैं। संक्रमण के मध्य मानव जो व्यवस्था बना सकता है, बनाने का उसे अधिकार है, भले ही समाज में विचारों और मूल्यों के सर्वमान्य स्वरूप का अभाव हो। विचारों के सम्मिलन से दर्शन का विकास होना सम्भव है। मानव और उसका समाज विकासशील हैं। मानव अपनी विकासमान बुद्धि और नैतिक उपलब्धि के अनुसार सामर्थ्यभर उथल-पुथल को सहन कर सकता है, किन्तु आधारभूत तथ्य यही है कि यह व्यक्ति के कार्य का युग है। हां, किसी भी प्रभावी कार्य में बुद्धि का समावेश होना आवश्यक है।

६ | ऐश्वर्य के प्रति संघर्ष

महाभारत के एक श्लोक का अर्थ है कि तीनों लोकों में ऐश्वर्य के लिए चराचर में संघर्ष होता रहता है।

विचार और आदर्श हर युग में नवीन होते चलते हैं। यह गति प्रायः अग्रगामी ही होती है। कई उतार-चढ़ावों के बाद इसका फल और प्रयास अन्ततः श्रेष्ठतर ही होता है। इस अग्र-गामी गति के सन्दर्भ में, मानव-इतिहास में, निरन्तर मानसिक और भौतिक प्रगति होती रहती है। किन्तु इन दोनों में से किसी एक की उपेक्षा करते हुए दूसरे को अधिक अपनाना, वास्तव में, असंतुलन ही कहा जायगा। ईशावास्योपनिषदमें सन्तुलन की इस उपेक्षा पर बड़ी मार्मिक उक्ति है :

> **अंधं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते,**
> **ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।**

—वे अंधकार में रहते हैं, जो भौतिक भोगों को ही महत्त्व देते है, किन्तु उनसे भी अधिक अधोगामी गति उनकी है, जो केवल आधिभौतिक को ही सबकुछ मानते हैं।

भारतीय परम्परा में व्यापारी और शिल्पकार को प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त है, यद्यपि, अन्य प्राचीन देशों की भांति, संत और दार्शनिक को सबसे अधिक सम्मान दिया गया है। जब पूर्व में ज्ञानालोक फैला, तब पश्चिम बिल्कुल अज्ञात था।

वैदिक भारत में समृद्धि के प्रति स्पष्ट अनुराग पाया जाता है। लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए सर्वत्र प्रार्थनाएं हैं। बड़े, पराक्रमी व्यापारियों को काफी सम्मान प्राप्त है। वेद में उसे 'श्रेष्ठि' कहा है, जिसका अर्थ है 'श्रेष्ठ पुरुष'। बृहदारण्यक उपनिषद् में इस आशय का एक रोचक प्रसंग है कि ब्रह्मा जब ब्राह्मण और क्षत्रिय का सृजन करके सन्तुष्ट नहीं हुए, तो उन्होंने वैश्य अथवा गणश की सृष्टि की, जो साम्प्रदायिक संघटन का कार्य करता था। बौद्ध साहित्य में बताया गया है कि सेट्ठि को अर्थात् व्यापारी-श्रेष्ठ को राजा, प्रजा और जनपद, सभीसे सम्मान प्राप्त था :

'राजपूजितो नगर जनपदपूजितो।'

उसके विरुद्ध आज जैसा कोई राजनैतिक अभियान उस समय नहीं था।

भारतीय राजनीति की नींव जनता थी। वैदिक कालीन राजा का मुख्य कार्य जनता की सहमति प्राप्त करते रहना था, 'सबके विचार एक हों, जिससे सभी प्रसन्नतापूर्वक तृप्ति प्राप्त करें' (ऋग्वेद, दशम, १९१, २-४)। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जनता को वस्तुतः 'राजा-कृतः' (राजा-निर्मात्री) माना जाता था। महाभारत और मनु भी यही मानते हैं। कुशल एवं व्यवहारवादी राजनेता कौटिल्य ने भी, राजा के हित-रक्षण के बावजूद, यह लिखा है कि जनता की सेवा करना और जनता के सुख में ही अपना सुख समझना राजा का कर्तव्य है। इससे पूर्व, नारद ने महाराजा युधिष्ठिर को पूर्णतः जनता के हित और सुख के लिए कार्य करने का उपदेश दिया। प्राचीन भारत में प्रजा की

रचनात्मक भूमिका राजा पर अंकुश रखना था।

जनता की इस भूमिका को यूरोप में पुनर्जागरण और सुधारवादी काल के बाद ही मान्यता मिली। ब्रायस ने 'दि मार्डन डेमोक्रेसीज़' में जनता के इस 'रोल' की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "जनता की प्रभुसत्ता ही लोकतन्त्र का आधार और नारा है।" लेकिन उसने उपसंहार में यह भी लिखा है, "यदि आप जनता को अपने अनुकूल कर सकें—और यह कार्य कम कठिन नहीं है—तो बाकी सारे काम सामान्यतः सुचारु ढंग से चलते रहेंगे।" यह 'प्रभुसत्ता' भारतीय राजा को सम्बोधित इन शब्दों में व्यक्त हुए हैं, "तुम गर्व कैसे कर सकते हो, तुम तो जन-समूह के दासमात्र गणदास हो और षष्ठमांश (फसल का छठा भाग जो राजस्व के रूप में दिया जाता था) पर गुज़ारा करते हो—(यजुर्वेद चतुःशतक, सूक्त छह, ७७)।

यदि जीवन गति है तो उद्योग उस समय तक जीवित, जागृत और गतिशील है जबतक व्यक्ति और समुदाय को राष्ट्र के लिए अपनी ही पहल के अनुसार उत्पादन करने देने की सुविधाएं प्राप्त रहती हैं। जीवन प्रतियोगिता का ही दूसरा नाम है। आर्थिक जीवन की धारा मुक्त प्रतियोगिता के तल पर बहती है, जो लोगों को औचित्य की सीमा में कार्य करने की स्वाधीनता देती है। बाजार को समझना, उसकी प्रवृत्ति का अनुकरण करना तथा उसके मिजाज़ को कायम रखना ही औचित्य की कसौटी है। प्रबुद्ध स्पर्धा को सामान्य विवेक और सद्बुद्धि, दोनों का ही सहारा प्राप्त है और इसके फलस्वरूप वह उचित मूल्य, मज़दूरी और लाभांश निर्धारित करने में समर्थ होती है। प्रतिस्पर्धा का

सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि प्रगति मनुष्य और प्रकृति में तत्वतः अन्तर्निहित है। विख्यात विद्वान इमर्सन ने तो स्वतन्त्रता को ही जीवन माना है और स्वतन्त्र होकर ही कोई स्पर्द्धा करता है।

प्रतिस्पर्धा प्रकृति की ही देन है। यह एक तरह से प्राकृतिक विज्ञान से सम्बन्धित है। न्यूटनवादी भौतिकशास्त्र प्रकृति में कानून और व्यवस्था को मान्यता देता है। डार्विन के जीव-शास्त्र ने यह सन्देश दिया है कि जो समर्थ है वही जीवित रह सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिस्पर्धा न्यूटनवाद और डार्विनवाद के यौगिक का आर्थिक संस्करण है। यह स्मरणीय है कि प्रतिस्पर्धा के सिद्धान्त अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित किये जाने से बहुत पहले ही सामान्यतः लागू थे, जिसके फलस्वरूप एक ऐसी आर्थिक संहिता व्यवहार में थी, जिसने प्रतिस्पर्धा को सामाजिक विकास से सम्बद्ध किया।

सामंती व राजाशाही युग ने राजकीय तथा राजाशाही निरंकुशता को काफी गुंजायश प्रदान की। राजाशाही वित्तीय प्रभुता को प्राप्त करने और कायम रखने पर आमादा थी और उसने व्यापारिक संतुलन का जो प्रयत्न किया वह दरअसल अनुदार ही था। हमारे देश में यदा-कदा कौटल्य जैसे व्यवहारवादी विचारकों ने ही नियन्त्रण के प्रति अपना आग्रह प्रदर्शित किया है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि उनका मुख्य उद्देश्य राज्य के राजस्व के लिए वाणिज्य का उपयोग करना था। उसने सम्राट् को खनिजों, लवण तथा कुछ अन्य पदार्थों में एकाधिकार रखने का परामर्श दिया।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों का उद्‌गम आधुनिक यूरोप है। उद्योग द्वारा संस्थापित अर्थतन्त्र की पृष्ठभूमि औद्योगिक क्रान्ति ने बनाई थी। यन्त्र धीरे-धीरे मानवीय श्रम का स्थान लेते गये, लेकिन श्रम फिर भी यन्त्रचालित उद्योग का अभिन्न अंग बना रहा। उत्पादन बढ़ता गया। उसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों पर कब्जा करना आवश्यक था। धन का अर्थतन्त्र औद्योगिक ढांचे की जटिलताएं पहले ही बढ़ा चुका था। जनता राजनैतिक मंच पर आई और मानवीय प्रतिष्ठा एवं वैयक्तिक स्वाधीनता के प्रति जागरूकता दिखलाने लगी। इस जागृति से राजाशाही विशेषाधिकारों द्वारा आरोपित नियन्त्रणों के विरुद्ध नाराज़गी फैली।

नये पूंजीपतियों और नये श्रमिकों को मताधिकार देने के लिए लोकतन्त्र का प्रसार हुआ। उद्योग के नये नायकों ने अपने देश की सम्पदा बढ़ाने में काफी योग दिया। राष्ट्रीय सम्पदा में वृद्धि से प्रशासकीय नियन्त्रणों को हटाने की मांग प्रबल हुई। इन सब बातों से अर्थशास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन की रुचि को बढ़ावा मिला।

औद्योगिक अर्थतन्त्र के वैज्ञानिक व्याख्याकारों ने उत्पादकों की सेवाओं का महत्त्व समझा और उद्यमों की स्वाधीनता का समर्थन किया। इस सिद्धान्त को बल मिला कि स्वाधीन और पूर्ण प्रतियोगिता सम्पदा के लिए राष्ट्र के प्रयत्नों व कर्मों का समुचित वाहन है। आर्थिक मामलों में इस चेतना का प्रवक्ता एडम स्मिथ था। उसकी 'वेल्थ आफ नेशन्स' नामक पुस्तक आधुनिक राजनैतिक अर्थतन्त्र की बीजात्मक पुस्तक है। स्टेनले

जेवान्स, मिल व वैथम ने स्मिथ का अनुगमन किया। इन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि अच्छा आर्थिक सामर्थ्य 'प्रतिस्पर्धा' द्वारा ही सम्भव है। जेवान्स ने अपने आर्थिक दृष्टि-कोण का आधार उत्पादक की बजाय उपभोक्ता को बनाया और यह तर्क दिया कि मांग और पूर्ति का निर्धारण उपभोक्ता द्वारा अनुभूत उत्पादन की उपयोगिता द्वारा किया जाता है। आशय यह था कि स्वाधीन उपभोक्ता-मांग को आपूर्ति का नियन्त्रण करने-वाली शक्ति माना जाना चाहिए और इसीलिए मुक्त बाजार समाज के सन्तोष और राष्ट्रीय सम्पदा के अधिकतम उत्पादन का आश्वासन है।

नियन्त्रण की धारणा अ-प्रतिस्पर्धी एकाधिकारी संगठनों के विरुद्ध प्रतिरक्षा के रूप में बैथम के उपयोगितावादी दर्शन में भ्रूण-रूप में विद्यमान है। इस प्रकार नियन्त्रण साधनमात्र ही था, जिसका उद्देश्य प्रतिस्पर्धा व्यवस्था की रुग्णता का उपचार करना था।

सरकारी हस्तक्षेप के विरुद्ध उनका पक्ष मोटे तौर पर इस धारणा पर आधारित था कि यदि सरकार और गैर-सरकारी संस्थाएं दमनकारी अधिकार से सज्जित होकर आर्थिक मामलों के सामान्य एवं स्वतः संचालन में हस्तक्षेप न करें तो समाज के आर्थिक मामले अपनी देख-रेख स्वयं ही कर सकते हैं। उन्हें लोगों की वैयक्तिक पहल द्वारा निर्धारित किये जाने की छूट मिलनी चाहिए। 'प्राकृतिक व्यवस्था' के प्रति सम्मान का उनका सिद्धान्त 'पूर्ण प्रतिस्पर्धा' के 'अदृश्य हाथ' के सक्रिय कार्य-संचालन द्वारा समर्थित था, जो अपने-आपमें 'बाजार की

यन्त्र-रचना के जादू' से परिचालित होता है। यह आर्थिक व्यक्तिवाद का प्रारम्भिक सिद्धान्त है, जिसने राजाशाही नियंत्रणों का स्थान लिया। प्रतियोगिता इसकी मूल ध्वनि है।

प्राविधिक प्रगति की ताबड़तोड़ रफ्तार से उत्पादन की योजना अकस्मात् अस्त-व्यस्त हो गई और उसके फलस्वरूप प्रतिस्पर्धा-व्यवस्था भी विकृत हो गई। एक-से-एक बढ़कर नये तथा विशाल यन्त्रों के दवाव और खिचाव के प्रभावस्वरूप उद्योग बे-तरतीब और बे-लगाम हो गया। अगणित नई विधियों से उत्पन्न अनेक तोड़-मरोड़ और झटकों ने ऐसी शक्तियां उत्पन्न कीं, जिन्होंने आर्थिक प्रतिस्पर्धा की अन्तर्निहित व्यवस्था को तोड़ दिया और तव कई उद्योगों के ताने-वाने से तैयार दानवाकार प्रतिष्ठान, न्यास तथा निगम उठ खड़े हुए। इन एकाधिकारी संगठनों ने भाव अपनी इच्छा से निर्धारित किये और वाजार को अपनी उंगलियों पर नचाना शुरू कर दिया। साधारण उपभोक्ता कष्टों के अपार एवं अथाह सागर में डूब गये। सम्भवतः इस खतरनाक पक्ष के परिपेक्ष्य में आल्डस हक्सले ने व्यंग्यपूर्ण चुटकी लेते हुए कहा, "प्राविधिक प्रगति ने हमको केवल पीछे की ओर लौटाने के अधिक प्रभावकारी साधन प्रदान किये हैं।"

एकाधिकारी संगठनों ने प्रतिस्पर्धा-प्रणाली की कमजोरियों से लाभ उठाया और आपूर्ति पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया। ऐसी शक्ति का सामना करने के लिए अमरीका-जैसे देशों में सरकार ने एकाधिकार-नियन्त्रित वाजार को नियन्त्रण-मुक्त कराने का उपाय अपनाया। इस परिप्रेक्ष्य में, नियन्त्रण

का उद्देश्य प्रतिस्पर्धा को विशाल प्रतिष्ठानों के शिकंजे से छुड़ाना है। सरकारी नियन्त्रणों अथवा न्यास-विरोधी अधिनियमों का यही उद्देश्य है कि प्रतिस्पर्धा पुनः सजीव और सक्रिय हो जाय। एकाधिकार के दुर्गुण उसकी विशालता के परिणाम नहीं हैं, बल्कि प्रतिस्पर्धा की क्षतियों के प्रतीक हैं। उदार नियन्त्रण की समता कुछ हद तक ऐसी चिकित्सा से की जा सकती है, जो प्रकृति के आरोग्यकारी सामर्थ्य को मुक्त अथवा पुनः उत्पन्न करके प्रकृति को सहायता देती है। लेकिन जब नियन्त्रण को अधिकार एवं शक्ति के रूप में इस्तेमाल किया जाता है तो वह निश्चय ही हानिकर हो जाता है। जब चिकित्सा प्रकृति की स्वाभाविक क्रिया में सहायक बनने की मर्यादा का उल्लंघन करने लगती है, तो उसका प्रभाव बुरा ही पड़ता है। उसी तरह नियन्त्रण पर अकारण अधिक जोर देने पर प्रतिस्पर्धा-व्यवस्था को आघात लगता है और इस प्रकार आर्थिक कल्याण के उद्देश्य को क्षति पहुंचती है।

लेकिन इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि बड़े प्रतिष्ठान आर्थिक क्रिया के स्वाभाविक विकास के ही परिचायक होते हैं। इसलिए कई कमजोरियों के बावजूद इन्हें समाज की विकासकारी सेवा का श्रेय प्राप्त है। निगम राष्ट्र के जीवन के भौतिकतावादी नियन्त्रण को ढालते हैं। नये उत्पादनों की योजना, कल्पना और सुधार के स्रोत कई हैं। केवल बड़ी कम्पनियां ही जनता के लिए माल की विविध किस्में तैयार करने के संसाधन रखती हैं। आज हम जो कुछ खरीदते हैं उसका अधिकांश बड़े निगमों द्वारा तैयार किया जाता है। उन्हें इस बात

का सही-सही ज्ञान अपने-आप हो जाता है कि उपभोक्ता क्या खरीदना चाहेंगे। यह खुले आम साफ-साफ स्वीकार कर लेना चाहिए कि उपभोक्ता को अपनी आवश्यकताओं का ज्ञान संसाधन-सम्पन्न उत्पादक की सूझ-बूझ द्वारा ही प्राप्त होता है। अक्सर बाज़ार में पहुंचकर ही उसे पता चलता है कि उसको क्या चाहिए। जीवन में ज्यादा-से-ज्यादा सुख-सुविधा पाने की उसकी कल्पना नये उत्पादनों से ही प्रेरित होती है। उन्हें देखकर ही वह उन नई आवश्यकताओं व अभावों का अनुभव करता है, जिनके विषय में वह पहले बिल्कुल ही अनभिज्ञ था। यह एक शानदार काम है, जो बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठान बिना केन्द्रीय आयोजना की सहायता और लगाव के भी ईमानदारी से कर रहे हैं।

बड़े कारखाने भौतिक सभ्यता की महती शक्तियां हैं, क्योंकि वे चरित्र के नियामक होते हैं और राष्ट्र के श्रम-बाज़ार को स्तर देने में सहायता देते हैं। संसाधनपूर्ण कम्पनी को यह निर्णय करने की आजादी होती है कि वह क्या, कैसा और किसके लिए, किस तरह से अपना माल तैयार करे। वह उपभोक्ता की मांग पूरी करने के लिए बाज़ार की नब्ज पहचानती है, चाहे वह स्कूटर बनाये अथवा वातानुकूलक। उत्पादन की योजना ही रोजगार की योजना का निर्धारण करती है। उत्पादक को बाज़ार की पहचान होती है और वह इसी हिसाब से हर व्यक्ति को काम देता है।

समाज पर निगम के संगठन और टेक्नालाजी का भारी प्रभाव है। वस्तुतः शिक्षा-व्यवस्था आर्थिक क्रिया के अनुकूल

ही विकसित हुई है। चाहे हम इंजीनियरिंग कालेज की बात करें अथवा ला कालेज की चर्चा करें, निगम-संगठनों द्वारा प्रशस्त क्षेत्र तथा मांग पाठ्य-क्रम के निर्धारण में भारी योग देती है। जब जिस प्रकार के ज्ञान और लोगों की जरूरत होती है, तब उत्पादक संयन्त्रों की आवश्यकताओं के अनुकूल वैसा ही ज्ञान तथा वैसे ही लोग तैयार किये जाते हैं।

जो छात्र कला की डिग्रियां लेते और स्वभावतः तटस्थ-जैसे रहते हैं, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उनके शिक्षण का भी एक बड़ा भाग देर-सवेर निगम क्षेत्र की मांगों से प्रभावित व निर्धारित होता ही है। किसी कम्पनी या प्रयोगशाला की किसी-न-किसी कोटर में उनके लिए भी व्यवसाय निकल ही आता है। रोजगार-क्षेत्र की बदलती प्रकृति की उपेक्षा करनेवाला विश्वविद्यालय अन्ततः खेद और अयोग्यता को ही प्रमाणित करता है।

दुर्भाग्य से, विशालता के प्रति हमारे यहां अकारण सन्देह किया जाता है। लोगों को भय है कि हर बड़ी चीज लघु मानव के हितों के प्रतिकूल होती है। लेकिन हकीकत यह है कि ऐसे लोगों को यह पता ही नहीं कि उन्हें बड़े कारखानों से क्यों भय है ? कुछ उत्पादनों के प्रसंगों में मुनाफाखोरी की चटपटी कहानियां कभी-कभी फैल जाती हैं। लेकिन वहां एक अन्दरूनी कहानी भी है, जो बड़ी रचनाओं की कहानी है, उन निर्माणों की कहानी जो हमेशा ही निर्मम शोषण अथवा नितान्त गैर-जिम्मेदारी के ब्योरे-मात्र नहीं हैं। दरअसल, पूंजीवाद अधिक उदार आलोचना का पात्र है। व्यापारी-विरोधी होना एकतरफा

दृष्टिकोण है, जिससे मानव-प्रगति को कोई सहायता नहीं मिली।

इस बारे में जापान के यतारो इवासाकी तथा ऐची शीबू-सावा के नाम उल्लेखनीय हैं। इवासाकी ने मित्सुबीशी ग्रुप को बनाया, जो आज भी दुनिया के सबसे बड़े और सफल ग्रुप में है और शीबूसावा ने करीब छः सौ कारखानों की स्थापना की। जापान के औद्योगिक विकास के इतिहास में इन दो नामों का बहुत बड़ा महत्त्व है।

व्यापारिक संगठन अक्सर राजनैतिक दलों से कम सन्देह आकृष्ट करते हैं। इसका अर्थ यह है कि बहुमत सरकारी आयोजना से उत्पन्न विपत्तियों की अपेक्षा व्यापारिक अराज-कता के प्रति अधिक सहिष्णु है। लेकिन नियन्त्रण अब 'स्थापित तथ्य' बन गया है—राजनीति में और उसके फलस्वरूप अर्थ-शास्त्र में भी। लेकिन नियन्त्रण अपने-आप में कोई साध्य नहीं है। साध्य तो यह है कि अर्थशास्त्र को सामाजिक ढांचे में स्वतन्त्र स्पर्द्धापूर्वक काम करने योग्य बनाया जाय। लेकिन राज्य को शक्ति-सम्पन्न बनाने के लिए प्रायः साध्य का दुरुपयोग किया जाता है। टायन्बी का मत है कि प्रथम महायुद्ध के बाद की दुनिया लोकतन्त्र द्वारा सामान्यतः प्रदत्त शक्तियां प्राप्त करने की ओर अग्रसर हुई, क्योंकि 'निरंकुशता के दुर्गुण लोकतन्त्र के सिद्धान्तों से अधिक प्रसारशील सिद्ध हो रहे थे।'

अब हम आर्थिक नियन्त्रण की विशिष्ट समस्या की ओर ध्यान दें। अर्थशास्त्र का क्षेत्र क्या है ? जहां उत्पादक, विक्रेता और क्रेता के बीच सौदेबाजी के सामाजिक सम्बन्ध में धन का

प्रवेश होता है, वहीं अर्थशास्त्र पदार्पण करता है। संक्षेप में, अर्थशास्त्र धन के अर्जन और वितरण के लिए सामाजिक अनुमोदन से सम्बन्धित कानून है।

आर्थिक प्रतिस्पर्धा मांग और पूर्ति की स्व-निर्देशित गति को उद्घाटित तथा प्रतिपादित करती है। यह सचमुच ही आश्चर्य की बात है कि समाज के विभिन्न सदस्य काफी माल और सेवाओं का उत्पादन और उपभोग इच्छानुसार करते हुए भी इस बात पर ध्यान नहीं देते हैं कि यह सब कैसे होता है। एक विशाल आर्थिक प्रक्रिया हमेशा चलती रहती है, जिसपर बड़े नगरों में लाखों लोगों की दैनिक गुज़र-बसर निर्भर करती है और हजारों लोग विभिन्न स्थानों में कार्यरत रहते हैं। साधारणतः हम इस ओर ध्यान नहीं देते। इस ओर हमारा ध्यान तो तभी आकृष्ट होता है, जब सरकार किसी केन्द्रीय निर्देश द्वारा आर्थिक प्रक्रिया में हस्तक्षेप करती है। आयोजन कुछेक अधिकारियों का ही प्रचेतन है, जबकि प्रतिस्पर्धा विशाल मानव-समुदाय की अचेतन और अर्द्ध-चेतन स्फूर्ति है। फिर भी प्रतिस्पर्धा-व्यवस्था अराजकता नहीं है, जबकि कई बार नियन्त्रित आर्थिक कार्य कहीं भी कुछ गणना अथवा ज्ञान-सम्बन्धी भूल के कारण अव्यवस्थित हो सकते हैं। प्राकृतिक और कृत्रिम के बीच यही भेद है। प्रतिस्पर्धा मानव-प्रकृति का तत्त्व है और मानव-प्रकृति की भांति ही वह अपना उद्देश्य पूरा करती है, तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जीवित रह पाती है। प्रकृति-प्रेरित प्रतिस्पर्धा सामाजिक ढांचे को प्रभावित करती है और प्रगतियों के अनुकूल उसे ढालती है।

आर्थिक प्रतिस्पर्धा उत्पादकों को कीमतों के साथ चलने को बाध्य करती है, अन्यथा उन्हें मैदान छोड़ने पर बाध्य हो जाना पड़ता है। विवेकपूर्ण प्रतिस्पर्धा बाजार को एकरसता, गतिरोध और स्थिरता से बचाकर प्रतिस्पर्धियों के लिए नये पथ प्रशस्त करती है। यह सामाजिक कल्याण के अनुरूप ही है, क्योंकि यह जड़-सन्तोष की निरन्तर बढ़ती आकांक्षाओं को पूरा करती है। प्रतिस्पर्धा की योजना के अन्तर्गत, वैयक्तिक पूंजीपतियों को जन-अपेक्षाओं के प्रति सामाजिक रूप से संवेदनशील होना पड़ता है और उन्हें बाजार के विकासशील, सम्भव तथा वास्तविक परिवर्तनों के प्रति बौद्धिक रूप से सतर्क रहना पड़ता है। हर प्रतिस्पर्धात्मक लेन-देन निर्णय-बुद्धि को सुधारता है और पसन्दगी की समस्याओं को हल करने तथा उपयोगी परीक्षण शुरू करने में सहायता देता है। यह उल्लेखनीय है कि ज्यों-ज्यों बाजार का भौगोलिक विस्तार होता जाता है, त्यों-त्यों भीड़-भरी प्रतिस्पर्धा से उत्पन्न बाधाओं का भी स्वतः ही निराकरण होता जाता है, लेकिन यह विकास भी उत्तरदायित्व-पूर्ण प्रतिस्पर्धा का ही फल है।

प्रतियोगिता प्रकृति की देन है। यों, कोई भी व्यवस्था पूर्ण नहीं है। प्रतियोगिता में भी कुछ अपूर्णताएं हैं। लेकिन ऐसा तभी होता है, जब उसमें बहुत ज्यादा खिंचाव आ जाता है। सामान्य अवस्था में तो यह चमत्कारी कार्य ही करती है, क्योंकि यह प्रकृति का ही एक जीवन्त उपकरण है। स्पर्द्धा का विकास स्वतः हुआ है और इसीलिए यह प्रकृति का प्रत्यक्ष निर्देश है। इसका निर्माण किसी विशेषज्ञ समिति, सरकारी सत्ता अथवा

विद्वानों के किसी वर्ग ने नहीं किया। उत्पादन और वितरण, लागत और बाज़ार-भाव के अनेक जटिल सम्बन्ध मुक्त एवं गतिशील प्रतिस्पर्धा के दबाव में स्वतः हल हो जाते हैं। प्रतिस्पर्धा-व्यवस्था प्रकृति की आर्थिक यन्त्र-रचना है।

गीता के एक श्लोक की प्रसिद्ध पंक्ति है—'तस्माद् युध्यस्व भारत'। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है—"संसार का सामना करो।" और संसार का सामना करने के लिए प्रतिस्पर्धा जरूरी है। युद्ध के मामले में भी, युद्ध के माध्यम से प्रतिस्पर्धा देश की प्रगति को बढ़ावा देती है। इस समय अमरीका और रूस परस्पर प्रतिस्पर्धा कर रहे हैं और उन्होंने अन्तरिक्ष-यात्रा तथा आणुविक हथियारों के क्षेत्र में काफी प्रगति कर ली है। हालांकि अणुबम का विकास विनाश के लिए ही किया गया था, पर कालान्तर में अणुशक्ति का उपयोग मानव-कल्याण के लिए शान्तिपूर्ण कार्यों में भी होना निश्चित है और शुरू भी हो गया है। यदि यह प्रतिस्पर्धा न होती तो हमें चन्द्रमा तक पहुंचने में कई युग लग जाते। लेकिन आज यह एक जीवंत सम्भावना है।

आर्थिक विश्व इतना गूढ़ है कि मानव-मस्तिष्क उसे समझ नहीं सकता। आज भी आर्थिक मानव का मूल आचरण वही है, जो ईस्ट इंडिया कम्पनी के ज़माने में था। विशालता अवश्य आ गई है और उनके सम्बन्ध काफ़ी गूढ़ हो गये हैं। नवीन प्रवर्तन की योग्यताओं के कारण उद्योग ने आज न केवल उत्पादन के विज्ञान के रूप में, बल्कि जीवन भोगने की कला के रूप में भी मान्यता प्राप्त करली है। साथ ही, वह राष्ट्रीय

सम्पदा का एक ठोस संसाधन बन गया है। आवश्यकताओं को पूरा करते हुए, वह रुचियों और दशाओं को ढाल रहा है। वस्तुतः आर्थिक प्रगति ने सामाजिक रूप-रेखाओं को संवार दिया है। यह भी स्मरणीय है कि शुम्पीटर के शब्दों में, समाज को यह नहीं मालूम कि "जीवन का स्तर गिराने के बजाय उसकी रचना में ही व्यापार का योग हो सकता है।"

सरकार ने आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में असंख्य कार्यों के लिए अपने-आपको उत्तरदायी बना लिया है और यह लगातार अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि सरकार का कार्य भारी हस्तक्षेप से चलता है। "जस्टिस एण्ड एडमिनिस्ट्रेटिव ला" द्वितीय संस्करण में डब्ल्यु० ए० राब्सन ने लिखा है, "इस क्रिया का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम निस्संदेह यह है कि राज्य के प्रशासकीय विभागों ने बहुत ज्यादा शक्ति प्राप्त करली है।" यह उक्ति आज के भारत पर भी अच्छी तरह लागू होती है। असंख्य विधायी अधिनियमों के बढ़ते हुए भार के बावजूद, सरकार में गुरुत्व का केन्द्र विधान-संसद् से हटकर प्रशासन के हाथ में आ गया।

एक ऐसे राज्य द्वारा, जो पूर्णतः लोकतान्त्रिक नहीं है, उत्पादन के उपकरणों के स्वामित्व पर राजकीय नियन्त्रण की स्थापना उचित सामाजिक कार्य नहीं हो सकता। निजी उद्यम वैयक्तिक स्वाधीनता का एक आश्वासन है। मुक्त उद्यम द्वारा व्यक्ति को राजकीय नौकरी के बाहर भी जीविका प्राप्त होती है। चाहे जो हो, पर इस बात से सरकार में रुचि रखनेवाले व्यक्ति के अलावा कोई भी इन्कार नहीं कर सकता कि जन-

साधारण आज नियन्त्रण के संकटों से बहुत ज्यादा दुःखी हैं। इससे भी आगे, नियन्त्रण-सम्बन्धी अनुभवों से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'नियन्त्रण को किस प्रकार नियन्त्रित किया जाय ?' इस गम्भीर प्रश्न के सही उत्तर पर ही लोकतन्त्र में मिश्रित अर्थ-तन्त्र का भविष्य निर्भर है।

७ | 'भूत्यै न प्रमदितव्यम्'

जब शिष्य पढ़कर गुरुकुल से विदा लेता था, तो आचार्य उसे उपदेश देता था। उन अनुशासनों में एक यह भी था। इसका अर्थ है 'समृद्धि की अवहेलना न कर।' हमारे देश के प्राचीन ज्ञानी महापुरुष नीति को एक पलड़े में रखते थे और वैभव को दूसरे में। उनके विचार से सृष्टि के दो तत्त्व हैं—पार्थिव और आध्यात्मिक। इसलिए समाज के लिए यह आवश्यक है कि पूर्णता प्राप्त करने के लिए, वह भौतिक सम्पत्ति और आत्मिक सम्पत्ति, दोनों के पृथक मूल्यों के अस्तित्व को स्वीकार करे। भारतीय 'लक्ष्मीनारायण' की आराधना करते थे। लक्ष्मी देवी और सत्यनारायण देव—दोनों की एक साथ पूजा इन्हीं दो ध्रुव सत्यों की स्वीकृति की ओर संकेत करती है, जो मौलिक और अन्तिम सत्य से सम्बन्धित हैं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि भाग्य देवी के परिचायक 'श्री' शब्द के अर्थ हैं—शुभ और शुभ कर्म, जैसे परमानन्द, सौन्दर्य और प्रचुरता सभी इस सामान्य विचार में सन्निहित हैं।

भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहा था :

'राज्ञः कोशबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम्।
तन्मूलं सर्वधर्माणां धर्ममूलाः पुनः प्रजाः॥'

—राजा खजाने के सहारे रहता है। खजाना ही राजा का

बल है। सब प्रकार के धर्मों का वह सहारा है। प्रजा धर्म पर अवस्थित रहती है, अर्थात् असमृद्ध देश में प्रजा भी धर्मच्युत हो जाती है।

प्रत्येक अर्थव्यवस्था में किसी नियामक पद्धति की आवश्यकता होती है। कौन-सी चीज़ कब तैयार की जाय, उसका वितरण कब और किसको किया जाय तथा भुगतान की शर्तें और रकम का परिमाण क्या हो, इसको निश्चित करने की एक प्रणाली होती है। स्वतन्त्र समाज में लाभ की प्रेरणा ही यह नियामक यन्त्र होता है। सभी आर्थिक कार्य-कलापों में अधिकांशतः उससे दिशानिर्देश होता है तथा प्रगति-पथ के साधन-रूप वह अनुपम कारगर सिद्ध हुआ है।

सुविख्यात अर्थशास्त्री डेविड रिकार्डो ने कहा है, "किसी देश की समृद्धि और सुख के लिए ऊंचे लाभ से बढ़कर अन्य कुछ भी अधिक सहायक नहीं होता।"

इतिहास के प्रत्येक काल में हर जाति तथा राजनीति-व्यवस्था में मुनाफ़ा अभिप्रेत रहा है। आदिम समाज में खाद्य और पशुचर्म के रूप में मुनाफ़ा अर्जित किया जाता था। मुद्रा का उन दिनों प्रचलन नहीं था, लेकिन तात्कालिक आवश्यकता से अधिक मात्रा में बची हुई वस्तुओं को मुनाफ़े के रूप में उसी प्रकार रख दिया जाता था, जैसे आजकल बचा हुआ धन बैंकों में रखा जाता है। आगे चलकर सम्पत्ति गाय और पशुओं के रूप में मानी जाने लगी।

आमतौर पर मुनाफ़े की कल्पना आधुनिक काल के व्यापारिक कार्यकलापों के सन्दर्भ में सुपरिचित एवं तात्कालिक लाभ

की दृष्टि से ही की जाती है। लेकिन लाभ या मुनाफा शब्द का बहुत व्यापक अर्थ है और इस व्यापक अर्थ में ही मुनाफ़े की भूमिका तथा उसकी प्रेरणा को हृदयंगम करना चाहिए।

मुनाफे की व्याख्या अनेक प्रकार से की जाती है। उनमें से कुछ तो इतनी जटिल हैं कि वे अर्थशास्त्र के लिए ही महत्त्वपूर्ण हैं। पर इन शास्त्रीय व्याख्याओं में से एक प्रस्तावना यहां उपयुक्त होगी। मुनाफ़ा उसे कहते हैं 'जो उपलब्ध धनराशि में से उसकी लागत को बाद देने पर बच रहता है।'

किसी देश के केन्द्र द्वारा नियमित अर्थव्यवस्था के लिए मुनाफ़ा-प्रणाली का परित्याग उपभोक्ता के हाथों से उसकी पसन्दगी की शक्ति छीन लेता है और यह थोड़े-से गलत काम करनेवालों और उसकी अपनी सम्भावित मूर्खता के अधीन, संरक्षण के मूल्य के समान होता है। यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का परित्याग भी है।

मुनाफ़ा का अनुसन्धान व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। आर्थिक लाभ के लिए प्रयत्न का सुअवसर एक प्रकार से राष्ट्र के राजनैतिक दर्शन का विस्तार है और उसकी विरासत का उसी तरह का एक हिस्सा है, जैसा कि मतदान अपने मौलिक अधिकारों का। राष्ट्र के पुराने नेताओं ने अधिनायकवादी नियन्त्रण से मुक्त अर्थव्यवस्था के लाभ को स्पष्ट रूप से समझा था और वे पूर्णतया जानते थे कि इसी प्रकार की अर्थव्यवस्था का राजनैतिक स्वतन्त्रता से तालमेल हो सकता है। हमारे इन नेताओं ने अपना राजनैतिक सिद्धान्त इस दृढ़ विश्वास पर आधारित किया था कि स्वाधीनता

अविभाज्य है।

वाजार की प्रतियोगिता में कहीं अपना अस्तित्व ही न खो जाय, इसलिए व्यवसायी उपभोक्ता की क्रय-प्रवृत्ति पर निगाह रखता है। मुनाफ़ा कमानेवाले के रूप में उसके कार्यकलाप उपभोक्ता के विचार तथा रुचि से पूर्णतया सम्बन्धित रहते हैं। राजनैतिक क्षेत्र की तरह आर्थिक क्षेत्र में भी जांच और सन्तुलन की आवश्यकता होती है। मुनाफ़ा-प्रणाली जैसे व्यक्तिगत लाभ में फलीभूत होती है, वैसे ही सार्वजनिक लाभ में भी हो, इसका कोई तरीका होना जरूरी है और यह तरीका या आश्वासन व्यापारिक प्रतिस्पर्धा की तीव्र शक्ति से प्राप्त हो जाता है। जवतक मुनाफ़ा चाहनेवाले आपस में कड़ी स्पर्द्धा करने के लिए स्वतन्त्र रहेंगे, तवतक समाज का हित सर्वथा सुरक्षित है।

कहीं-कहीं किसी समाज ने या कुछ फिरकों ने मुनाफे को दुत्कारने की कोशिश की है, किन्तु उनकी कोशिशें बेकार गईं। कम्यूनिस्ट देशों ने मुनाफ़ा-मनोवृत्ति के खिलाफ जाति, राष्ट्रीयता, आदर्शवाद और कर्तव्यज्ञान तक की दुहाई दी। किसी जमाने में अमरीका के एक स्वतन्त्र फिरके ने अपने भाग में 'मुनाफ़ा-विरोधी' समाज स्थापित करने का प्रयत्न किया था। उत्तरगामी शताब्दी में और भी परीक्षण किये गए। प्राचीन भारत में कुछ राजाओं ने भी कुछ परीक्षण किये थे। इनमें से कइयों का ध्येय नेक होते हुए भी अशन,वसन और आवास की व्यवस्था-जैसी बुनियादी समस्याओं का समाधान नहीं हुआ। केवल उन्हीं देशों ने द्रुत प्रगति की, जिन्होंने इस तरह का आदर्श-

वाद त्याग कर मुनाफ़ा मनोवृत्ति को अपनाया।

आज कम्यूनिस्ट देशों में एक आर्थिक क्रान्ति चल रही है, जो मुनाफ़े की मनोवृत्ति से प्रेरणा ले रही है। सोवियत संघ इसका विशिष्ट उदाहरण है। अधिकतम उत्पादन के लिए कटिबद्ध, बचाने और औद्योगिक सुविधाओं में विनियोग करने के लिए प्रयत्नशील सोवियत रूस भी आज सम्भवतः मुनाफ़े की मनोवृत्तिवाले अन्य देशों-जैसा ही बन गया है। आज उस देश का आर्थिक उद्देश्य यह है कि माल सस्ता बनाकर महंगा बेचना, और इस अन्तर को राज्याश्रित उद्योगों और सैनिक तथा प्रचार-कार्यों में लगाना। लौह-पर्दे के पीछेवाले यूरोपीय देशों की रिपोर्ट से ज़ाहिर है कि आमूलचूल परिवर्तन होता जा रहा है और वहां भी अब अधिकाधिक रूप में पूंजीवादी-प्रणाली की तरह प्रतियोगिता को अपनाया जा रहा है। उत्पादन के परिमाण की अपेक्षा वहां भी अब मुनाफा हरेक प्रतिष्ठान की कार्य-कुशलता का मापदंड बनता जा रहा है।

उपभोक्ता की बगावत के कारण ही केन्द्रीकृत आयोजन और नियन्त्रण का कम्यूनिस्ट आर्थिक सिद्धान्त छिन्न-भिन्न-सा हो रहा है। नई प्रणाली के अन्तर्गत अब केन्द्रीय आयोजक कारखाने के मैनेजरों को यह निर्देश नहीं देते कि क्या और कितना बनाया जाय, मजदूरों को कितना वेतन दिया जाय और माल कहां बेचा जाय। इसके बदले हरेक कारखाने के मैनेजर को विक्रय से मोटी आय का एक लक्ष्य बता दिया जाता है।

जबतक मुनाफ़े का अवसर बना रहता है, मुनाफ़ा चाहनेवाला रोजमर्रा का काम खुद-ब-खुद करता है और लाभ प्राप्त

करने की आशा से बहुत बड़ी संख्या में लोग कारबार की ओर आकृष्ट होते हैं। लोगों के इतने व्यापक प्रयत्न से न तो मालों की किस्म का ही कोई अन्त रहता है और न लोगों के लिए जोगाड़ की जानेवाली सेवा का ही। चयन सदैव बहुत व्यापक होता है और उसमें वृद्धि होती जाती है, क्योंकि मुनाफ़ा चाहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति उपभोक्ता के हित के सामुदायिक उद्देश्य प्रदर्शित करने का यत्न करता है।

सच बात तो यह है कि मुनाफ़ा ही विकास के लिए गुंजाइश और उत्पादन के लिए शक्ति देनेवाला स्रोत है। यह साहसिक कार्य के लिए पुरस्कार और किये गए प्रयत्न के लिए उपलब्धि है।

मुनाफ़ा और आर्थिक विकास दोनों वस्तुतः अभिन्न हैं, पर्यायवाची हैं। मुनाफ़ा प्रगति का कारण भी है और प्रमाण भी।

आर्थिक विकास का मतलब है परिवर्तन, ऐसा परिवर्तन जो बचत के विनियोग से उत्पन्न हो, ताकि माल और साज-सरंजाम का विकास किया जा सके, जो मान और परिणाम में वरिष्ठ हो और बाजार में प्राथमिकता पाये। विकास के लिए इस प्रकार के साहसिक कार्य को आरम्भ करने के लिए यह ज़रूरी है कि आरम्भ करनेवाले यह आशा करें कि साधारण हित में उन्हें जो लाभ मिल रहा है, उससे अधिक लाभ प्राप्त होगा।

विनियोग के लिए नई पूंजी बराबर दुर्लभ रहती है। दुर्लभता स्वीकार कर लेने और साथ ही प्रचुर कल्पना-शक्ति के होने पर स्पष्टतः विकास की गति को प्रभावित करने के लिए प्रेरणा की सीमा ही बच रहती है। प्रेरणा लाभ की विद्यमानता और सम्भावना का ही नाम है। आर्थिक विकास इसीपर अव-

लम्बित है। लाभ सीमित करना बढ़ोतरी को सीमित करना है। इसे मार दीजिए, बढ़ोतरी मर जायगी।

लाभ के विवेकपूर्ण और उचित स्तर को सूचित करनेवाला कोई एक अंक मान लेना सुविधाजनक हो सकता है। किन्तु आर्थिक प्रणाली इस प्रकार नहीं चला करती और न इसकी परिभाषा ही सीमित की जा सकती है। 'विवेकपूर्ण' किसके लिए और 'उचित' किस उद्देश्य के लिए ? इन सांकेतिक शब्दों की व्याख्या कठिन है। अगर अर्थतत्व को सुलझा भी दिया जाय, तो भी मौलिक कठिनाइयां रह ही जायंगी। मुद्रा की जो राशि लाभ के रूप में एक कम्पनी के लिए बिल्कुल उचित हो, वही राशि, एक बृहत्तर प्रतिष्ठान के लिए अथवा ऐसे उद्योग के लिए, जिसमें बहुत अधिक पूंजी-विनियोग की आवश्यकता हो, अपर्याप्त होगी। रुपये के स्थान में प्रतिशत के रूप में लाभ का उदाहरण स्पष्ट समाधान है। यह शायद कारगर हो जाय, क्योंकि इससे विविध आकार-प्रकार के प्रतिष्ठान सामान्य आधार पर आ जायंगे, यद्यपि यहीं तक बात समाप्त नहीं हो जाती। लाभ की जो दर क्षेत्र विशेष की किसी कम्पनी के लिए, जो एक बाज़ार की सेवा में रत हो और एक समान जोखमों का सामना करती हो, उचित है, वही दर दूसरे बाज़ारों में काम करनेवाली दूसरी कम्पनियों के लिए, जहां कारबार के जोखिम अधिक या न्यून हों, उचित हो यह कोई जरूरी नहीं—वस्तुत: उचित नहीं ही है। पुराने और नये क्षेत्र का प्रश्न मामले को जटिल बना देता है। नये और अनिश्चित क्षेत्र में लाभ की सम्भावनाएं आमतौर पर विनियोग निधि को आकृष्ट करने के

लिए अत्यधिक मोहक होती हैं, पर दीर्घ स्थापित उत्पादन-क्षेत्र में, जहां का वाजार अधिक पूर्व-सूचक होता है, लाभ की गुंजाइश वहुत कम हो सकती है।

अर्थ-व्यवस्था की लाभ-हानि की वढ़ोतरी विधि में कुछ स्वचालित लक्षण होते हैं। एक है हानि का सतत विद्यमान खतरा। हरेक छोटा-वड़ा उद्यमकर्ता अपने माल के विक्रय और अपने पिछले विनियोग की बरावर हानि पूरी करता रहता है और भावी मांग को भांप कर पुनर्विनियोग भी करता रहता है। यदि उसका अनुमान गलत निकला या वह अकुशल हुआ, तो आज या कल कारवार से हटने के लिए उसे विवश होना पड़ेगा। धीरे-धीरे यह वढ़ोतरी यथासम्भव अधिक हो सकती है। ये स्थितियां स्वतन्त्र बाजार-प्रणाली की हैं। आर्थिक वढ़ोतरी प्राप्त करने के लिए मूलतः यह आवश्यक है कि लाभ-हानि की प्रेरणामूलक प्रणाली को स्वतन्त्र रूप से काम करने दिया जाय। दूसरा कोई रास्ता सम्भव नहीं है।

लाभ का स्वतः कोई नैतिक अभिधान नहीं। वह न अच्छा होता है, न बुरा। अच्छे-बुरे का प्रश्न तो उन लोगों की नीयत से सम्बन्ध रखता है, जो मुनाफ़ा कमाते हैं। यह उल्लेखनीय है कि आलोचना मुनाफाखोरी की नहीं, उसके नाम पर किये गए अपराधों की होती है।

निश्चय ही व्यापारिक जगत् साधु-सन्तों की जमात नहीं होता। अगर देश में कुछ सिद्धान्तविहीन लोग हैं, तो यह आंकड़ामूलक सत्य है कि उनमें से कुछ व्यापारिक वर्ग में और साथ ही अन्य किसी वर्ग में भी पाये जायंगे। नैतिकता

नैतिकता एक वर्ग में भी उतनी ही मिल सकती है, जितनी दूसरे में। मुनाफ़े के नाम पर कतिपय काम होते हैं, पर उनसे इस प्रणाली के आधारभूत तत्त्व पर परदा नहीं पड़ने देना चाहिए। कुछ लोग इस प्रणाली को भयोत्पादक मानते हैं। अंग्रेजी काल में भारत को जानबूझकर उत्पादन की सुविधाओं से वंचित रखा गया, क्योंकि ब्रिटिश उत्पादनकर्त्ता भारतीय बाजार को अपने लिए सुरक्षित चाहते थे। स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् भारत के समक्ष अपनी आवश्यकता पूरी करने का उत्तरदायित्व उपस्थित हुआ। किन्तु असली बुनियादी समस्याओं को भूलकर, नेतागण आदर्शवाद और नारों में अधिक रत हो गये। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि कारगर लाभ-प्रणाली स्वतन्त्रता और देश की समुन्नति के लिए अहितकर है।

लाभ-प्रणाली के किसी भी विवेकपूर्ण निर्णय में स्वतन्त्र देशों की सफलता काफी वजन रखती है। अधिकांश ने खुले बाजार के निर्मित लाभ-प्राप्ति पर ही अर्थव्यवस्था खड़ी की है। उस उद्यम की सफलता का मापदंड है लाखों को रोजगार, करोड़ों रुपये की राष्ट्रीय आय और विशाल तथा उत्पादक तकनीकी सृजन।

विज्ञान और इंजीनियरिंग के उन्नयन में लाभप्रद काम हर जगह दिखाई देता है, लेकिन हर जगह उसे नजरअन्दाज कर दिया जाता है। उद्योग की आश्चर्यजनक उत्पादन-कला की ओर शीघ्र ध्यान चला जाता है, किन्तु मुनाफ़े के प्रमुख कार्य तकनीकी प्रगति को इस विश्वदृश्य में किसीने श्रेय नहीं दिया। लेकिन तथ्य यह है कि तकनीकी प्रवीणता और भावी मुनाफ़े

का प्रत्यक्ष और परोक्ष अनुदाता मुनाफा है। लाभप्रणाली अनुसन्धान का बिल चुकाती है और लाभ ही विस्तार को प्रोत्साहन भी देता है।

अप्रत्यक्ष रूप से व्यापारिक मार्ग से परे सामाजिक और प्रशासनिक संगठनों के संरक्षण में भी मुनाफ़ा समानरूप से महत्त्वपूर्ण है। लोकप्रेरणा राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के लिए आवश्यक सैनिक प्रतिष्ठानों की सहायतार्थ एवं विज्ञान और टेक्नोलॉजी की स्थापना के लिए धन की व्यवस्था करती है और कलात्मक तथा बौद्धिक कार्यों का संरक्षण करती है। सार्वजनिक कार्यों तथा सरकारी सेवाओं के लिए भी यही अर्थ जुटाती है।

अभौतिक और विशुद्ध आर्थिक क्षेत्र में उत्कर्ष के लिए लाभप्रेरणा का महत्त्व अचूक है। समाज की प्रगति और प्रणाली में इसका अवदान असन्दिग्ध है।

८ | बदरीनाथ के पथ पर

अलकनन्दा कलकल निनाद करती हमारे पांवों के समीप से बह रही थी, ऊमसभरी संध्या में उसका रंग सिलेटी दिखाई पड़ रहा था। जहां उसकी गति में बाधा पड़ती, वहां उसपर झिलमिलाता प्रकाश और भी प्रखर हो उठता था। ताजे पवन में भीगी मिट्टी की सौंधी गन्ध भर रही थी।

व्यापक और उत्तुंग हिमालय का शिखर हमारे आगे खड़ा था। हमें यहीं उसकी विशालता के दर्शन हुए। शिमला, मसूरी जैसे पर्वतीय नगरों से तो केवल चोटियों के छोर ही दिखाई पड़ते हैं। धीरे-धीरे चारों ओर अंधकार उतर आया। डाकबंगले के बरामदे में मैं कुरसी पर से उठ बैठा और टहलता हुआ धुंधले तारों की छाया में सीमा तक, नदी की ओर झांकते हुए उसके वृक्षहीन शिलाओं के प्रांगण तक जा पहुंचा।

मानव की उत्पत्ति के बाद से विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने अत्यधिक प्रगति की है। आगामी तीस वर्षों में उसमें और भी अधिक प्रगति होगी। वैज्ञानिकों की भविष्यवाणी है कि सन् दो हजार तक मानव में भूख पर विजय पाने, जीवन-अवधि को काफी बढ़ा लेने और वंशानुगत लक्षण बदल देने की क्षमता आ जायगी। शक्ति और खनिज पदार्थ अपरिमित मात्रा में सुलभ हो जायंगे। वह चन्द्र और सौर मण्डल के अन्य भागों को अपने

प्रभाव-क्षेत्र में ले आयेगा। सम्भवतः वह ऐसी मशीनों का भी निर्माण कर ले, जिनमें विचार और तर्क को करोड़ों गुना करने की क्षमता होगी।

भौतिक विज्ञानों ने दुनिया को उसके दैवी स्वरूप से वंचित कर दिया है। अब हमें नक्षत्रों की रासायनिक रचना का पता है, और हम जानते हैं कि वे किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, वृद्ध होते हैं और क्षय हो जाते हैं। अब हमारे मन में उन्हें देवता समझने की लालसा नहीं जगती। हमें यह भी बता दिया गया है कि सृष्टि बढ़ती है और उसका विकास होता है। ब्रह्माण्ड के अब अछूता न रह जाने से भौतिक विज्ञानों ने हर वस्तु में ईश्वर के दर्शन को अधिकाधिक कठिन बना दिया है।

अनीश्वरवाद अन्य बातों के साथ राजनैतिक कारणों से भी जन्म लेता है। सम्पूर्ण राष्ट्र ने उस राजनैतिक व्यवस्था के साथ, जिसे वह अनुचित समझता था, धर्म को भी ठुकराया है। लेकिन इसके बौद्धिक कारण भी हैं। स्पष्ट है कि विज्ञान और धर्म के संघर्ष से धर्माचार्यों का मान नहीं बढ़ा है। कभी-कभी धर्माचार्यों ने वैज्ञानिक सत्य के विरुद्ध रुख अपनाया है और उन्हें पराजित होना पड़ा है। आधुनिक विचारधारा ने भौतिक विज्ञान के कठोर अनुशासन को स्वीकार करना सिखाया। फलतः आज के विश्व में धर्म और दर्शन को इन मांगों की पूर्ति करने में समर्थ होना चाहिए।

संयोग का कोई सिद्धान्त विश्व की रचना को नहीं समझा सकता। किसी भी सुसम्बद्ध अनीश्वरवादी सिद्धान्त के अनुसार विश्व केवल 'प्रकृति' है, मात्र 'प्रकृति' होने के कारण उसे

शाश्वत होना चाहिए। इसलिए अनीश्वरवादी सिद्धान्तशास्त्री विश्व की रचना के बारे में हर कीमत पर ऐसा दृष्टान्त पेश करने को बाध्य हैं, जिसमें विश्व को अनादि माना जाय और, इसलिए, जिसका कोई इतिहास न हो। किन्तु विश्व का इतिहास है, उसमें आदि असंख्य हैं, उसका विकास होता है, पदार्थ का इतिहास है और उसकी वृद्धि होती है। लगभग तीन सौ करोड़ वर्ष पूर्व ठण्डे पड़ जानेवाले नक्षत्रों पर अधिकाधिक जटिल और व्यवस्थित पदार्थ प्रकट हुआ तथा जीव की उत्पत्ति हुई। स्वभावतः जीवन के इतिहास को पहले से अधिक जटिल स्नायविक प्रणालीवाले अधिकाधिक विविध और स्वचालित जीवाणुओं की उत्पत्ति का इतिहास समझा जा सकता है। मस्तिष्कवाले जीवधारियों का निरन्तर विकास होता रहा और अन्त में मानव की उत्पत्ति हुई।

आकार-रहित पंचमहाभूत स्वयं को व्यवस्थित करने में, सचेतन होने में और स्वयं में विचार-शक्ति पैदा करने में समर्थ हुए हैं। स्पष्ट है कि यदि पदार्थ को इस प्रकार से देखा जाय, तो उसे बहुत अधिक कल्पना-शक्ति, भारी बुद्धिमता तथा साक्षात प्रतिभा का श्रेय मिलना चाहिए, क्योंकि किसी भी जीवधारी के, वह कितना भी तुच्छ क्यों न हो, शरीर के भाग तथा बड़े जीवाणुओं की स्वतन्त्र उत्पत्ति के लिए और साथ ही जीवन के उच्चतर रूपों को चेतन करनेवाली क्रिया-कलाप-प्रणाली के आविष्कार के लिए भारी प्रतिभा की आवश्यकता थी। यह स्वीकार करना होगा कि इसका कोई स्रष्टा है। हम अभी तक कृत्रिम रूप से सरलतम जीवाणु का भी निर्माण नहीं कर पाये

हैं। पदार्थ, स्वयं, जीव विकास का आविष्कार करने में समर्थ हुआ है। वह युगों से अधिक बड़े मस्तिष्कवाले और पहले से कहीं अधिक चेतनावाले अधिकाधिक जटिल तथा विविध जीवधारियों की अधिकाधिक गति से सृष्टि की ओर निरन्तर अग्रसर है। कहना न होगा कि पदार्थ में ईश्वर के ये सभी गुण हैं—स्वयंभू, जीव-विकास में आत्मनिर्भरता और सृजनशील भाव और प्रतिभा।

प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक क्लाड त्रेस्माँतां सजीवन वस्तु की व्याख्या करते हुए कहता है कि "इसमें 'पदार्थ' और एक 'रूप' या धारण करनेवाला 'ढांचा' होता है। उसके अनुसार शरीर की परिभाषा आत्मा द्वारा सजीव किया गया पदार्थ है। आत्मा से रहित शरीर नहीं हो सकता, क्योंकि मृत्यु होने पर जब आत्मा तिरोहित हो जाती है तो पीछे जो कुछ शेष रहता है वह शरीर नहीं, नाशवान पदार्थ का फुटकर ढेर, शव होता है।"[१]

सुकरात ने विष-पान के बाद मृत्यु तक का समय काटने के लिए अपने मित्रों से वार्त्तालाप शुरू कर दिया था। सुकरात ने कहा, "आत्मा अमर है और उसका पुनर्जन्म होता है।" संबीज ने इसपर शंका प्रकट की।

सुकरात ने उत्तर दिया, "विरोधों से विरोध उत्पन्न होते हैं, जैसे निद्रा से जागरण उत्पन्न होता है और जागरण से निद्रा। जब अशक्त शक्तिशाली बनता है तो, शक्तिशाली अशक्त बन जाता है। मृत्यु जीवन से जन्म लेती है, इसलिए स्वभावतः जीवन मृत्यु से जन्म लेता है।"

यह २४०० वर्ष पूर्व का दर्शन है और स्वभावतः प्रवचन के

अलावा उसे अधिक महत्त्व नहीं मिला। लेकिन आज फ्रांस के विख्यात भौतिकवादी दार्शनिक ओलिवियर कांस्ता द ब्योरेगार ने इस प्रकार का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वह जिज्ञासा करता है, "हम समय को अप्रत्यावर्ती क्यों समझते हैं? जीवधारी सृष्टि में विरोधी दिशा के बजाय इस दिशा में जाने के लिए क्यों बाध्य हैं?" वह आगे कहता है, "विश्व का विकास तभी होता है, जब हम अपने दृष्टिकोण से देखते हैं। स्वयं में, वह शाश्वत वर्तमान में अचल है।"[२]

इस सम्बन्ध में मैं गीता का उल्लेख नहीं कर रहा, यद्यपि यह प्रसंग हमें उसमें भी मिलता है।

और एक बार यह स्वीकार कर लेने पर कि इस विकास के पीछे कोई शक्ति है, मैं नहीं समझता, हम आस्था का परित्याग क्यों करें। आखिर आज की दुनिया में समस्या के हल में आस्था भी कम-से-कम उतनी ही शक्तिशाली है, जितना ज्ञान। लार्ड टेनिसन ने 'इन मेमोरियम' नाम की कविता में कहा है:

"जहां हम सिद्ध नहीं कर सकते वहां
आस्था से, केवल आस्था से ही, विश्वास
का वरण करो।"

पुराणों में हिरण्यकशिपु की एक कथा है। उसने ईश्वर की पूजा रोक दी और जनता ने हिरण्यकशिपु की पूजा शुरू कर दी। किन्तु उसके अपने ही पुत्र प्रह्लाद की ईश्वर में अधिक आस्था थी। एक दिन क्रोध में हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद से पूछा कि बता, तेरा ईश्वर कहां है? प्रह्लाद ने एक बड़े खम्भे की ओर उंगली उठाकर कहा कि ईश्वर उस खम्भे में भी है, जैसा

कि वह सब जगह है। हिरण्यकशिपु ने खम्भे पर प्रहार किया और प्रकट हुआ एक स्वरूप, जो आधा नर था और आधा सिंह। नृसिंह ने हिरण्यकशिपु को मार डाला।

आधुनिक युग के लोग इस प्रकार की कहानी पर हँस सकते हैं, तथापि आज भी आस्था को खत्म कर देने पर हम जीवन में बहुत-कुछ खो देंगे।

भगवान् कृष्ण ने अपना विराट स्वरूप प्रकट करते हुए 'गीता' में कहा है,

"इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि।"

—हे गुडाकेश अर्जुन! अब इस मेरे शरीर में एक जगह स्थित हुए चराचर-सहित सम्पूर्ण जगत् को देख, तथा और भी जो कुछ देखना चाहता है, सो देख।

प्राचीन काल में धार्मिक व्यवहार और विचार की सबसे बड़ी सुन्दरता इस बात में थी कि उसने नये विचारों को सहज ग्रहण किया। वेदों का प्रारम्भ ही नये मन्त्रों के उच्चारण से होता है। आधुनिक युग में धर्म के इस परिणाम को टालने के लिए सर जुलियन हक्सले[3] ने नये शब्दों में विकास के आधार पर धर्म के पुर्निनमाण की वकालत की है। उनका विश्वास है कि 'विकासशील मानववाद' की उनकी स्थापना नये धर्म का मूल बनने में सक्षम है। यह आवश्यक नहीं कि वह वर्तमान धर्मों का स्थान ग्रहण करे, वरन् उनकी पूरक होगी। अभी यह देखना है कि इस मूल का विकास किस प्रकार हो सकता है। उसकी बौद्धिक रूपरेखा तैयार करना, उसके विचारों को प्रेरणा-

प्रद बनाने का प्रयत्न करना, उसका व्यापक प्रसार करना, सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि तथ्यों से विचारों का औचित्य सिद्ध किया जाय, निराशा के क्षेत्र खोजे जायं और बताया जाय कि वे कहां कम हो रहे हैं, यह दरशाया जाय कि मानवीय संभावनाओं की खोज से उनकी पूर्ति के लिए किस प्रकार नये प्रोत्साहन मिल रहे हैं, साथ ही, उनकी पूर्ति के लिए साधनों का प्रदर्शन किया जाय।

कतिपय बड़े-बड़े वैज्ञानिकों में ईश्वर के प्रति गहरा प्रेम क्यों होता है ? इसका एक अच्छा कारण आर० बी० कइल ने 'मनोविज्ञान और धार्मिक जिज्ञासा' में दिया है, "हो सकता है कि विज्ञान की दुनिया द्वारा पहुंचाये गए आघातों और मानव द्वारा व्यावहारिक विज्ञान के समझदारी से उपयोग की बजाय आवेशात्मक उपयोग से कुछका ध्यान मानवता की ओर आकृष्ट हुआ है।" इससे हमको एक अत्यन्त उल्लेखनीय वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स के ईश्वर-प्रेम को समझने का सुराग मिलता है। उसने यथार्थ के साथ मन के तादात्म्य का पता लगाया। उसके प्रेरणादायक सन्देश के शब्दों में :

"ज्ञानधारा अयांत्रिक यथार्थ की ओर अग्रसर हो रही है, सृष्टि एक बड़ी मशीन की बजाय एक महान् विचार की भांति अधिक दिखाई देने लगी है। अब मन भौतिक क्षेत्र में अकस्मात् घुस आनेवाला जैसा दिखाई नहीं देता।" विश्व के दैवी सार की अनुभूति ने सर जेम्स को ईश्वरीय सृष्टि में उसका स्पर्श अनुभव करने के लिए आकर्षित किया।

जो दैवी है वह स्थायी यथार्थ है और आधुनिक मानव के

मन की पीड़ाओं का, उसकी दुःखी आत्मा का, उपचार केवल धर्म के सही पुनरुज्जीवन में है, जिससे विज्ञान मधुर बनता है और वासनाओं का शमन होता हैं।

आज राज्य भी मानव को 'नागरिक' बनाकर उसके मानव के व्यक्तित्व को सीमित करता है। कम्युनिस्ट राज्य इसे अधिक उत्साह से करता है, लोकतन्त्री राज्य आधे मन से, भले ही उसका जो भी लाभ या हानि हो, उसे ईश्वर से सम्बन्ध तोड़ने को तो बाध्य किया ही जाता है।

शायद कोई चारा भी नहीं है। कहा जाता है, कुछ व्यक्ति शासन करने के लिए पैदा होते हैं और कुछ शासित होने के लिए। तथापि युगों पहले एक समय ऐसा था, जब राज्य का निर्माण समाज के कल्याण के लिए किया गया और अरस्तू के शब्दों में राजनीति 'उत्कृष्ट कर्मों' का स्रोत थी। आज वह आतंक का साधन है और जिसे भी वह स्पर्श करती है उसीको दूषित कर देती है। राष्ट्रीय सत्ता का कुछ औचित्य है। किन्तु होता ऐसा है कि राष्ट्रीय सत्ता स्वयं में साध्य बन गई और उसकी प्राप्ति के लिए आर्थिक कल्याण की बलि दे दी गई। इससे भी बुरा होता है। राजनैतिक सूक्ष्मता की प्रक्रिया से राष्ट्रीय सत्ता बहुत सफ़ाई के साथ कुछ व्यक्तियों की सत्ता तक सीमित हो जाती है।

यदि विश्व रंगमंच है, तो मानव उसका नायक है। मानव ने इस विश्व का, इस तारों जटित ब्रह्माण्ड का निर्माण नहीं किया है। किन्तु इस रहस्यपूर्ण दुनिया का वह जैसा उपयोग करता है उससे उसकी अभिनय-कला सिद्ध होती है। इसी प्रकार, उसका

मन एक मशीन है, जो उसके आदि स्रष्टा ने उसे प्रदान की है। उसका श्रेय इस बात में है कि वह इस उप स्रष्टा से, यदि हम यह संज्ञा दे सकें तो, कितना अच्छा काम लेता है। वाह्य प्रकृति रंगमंच प्रदान करती है और उसके अपने अन्दर की प्रकृति उसके अभिनय की शैली को निर्धारित करती है।

उसके आसपास फूलों और रंगों, प्रकाश और छाया, पर्वतों और महासागरों, वनों और नदियों की दुनिया और ऊपर तारों से जगमगाता आकाश उसके मन को जगाते हैं, जबकि प्रकृति की पहेलियां, चांचल्य और आतंक उसकी प्रतिभा को चुनौती देते हैं।

वेदों में एक मन्त्र है कितना सरल और कितना अनूठा, जो मानव और उसके स्रष्टा में सम्बन्ध के मूल्य को स्पष्ट करता है। इस मन्त्र का नाम 'गायत्री' है, जिसमें कहा गया है : ओ३म् (मैं शपथपूर्वक कहता हूं) भूर्भुवः स्वः (पृथ्वी मध्य अन्तरिक्ष और उससे आगे तीनों लोक) तत् सवितुर् (इन सबका स्रष्टा) वरेण्यम् (पूजनीय) भर्गो देवस्य (इन शक्तियों का देवता) धीमहि (हम उसका ध्यान करते हैं) धियो यो नः प्रचोदयात् (हमें जो मानसिक शक्ति प्रदान करे उसके साथ) ओ३म् (मैं शपथपूर्वक कहता हूं।)

ईश्वर ने हमें जो विचारशक्ति प्रदान की है, उसके लिए उसका चिन्तन करना, उससे तादात्म्य अनुभव करने, अपनी आत्मा में उसका स्पर्श अनुभव करने का एक अच्छा उपाय है।

मानव की शान्त और प्रगति की आशा इस बात पर निर्भर है कि राजनीति अपना अध्यात्मीकरण स्वीकार करे। किन्तु

इस समय सारा सम्मान अक्ल को दिया जा रहा है, जबकि अक्ल विनाश में प्रसन्नता अनुभव करती है। मधुरता और प्रकाश के लिए सृष्टि-रचना का नियम एक बार फिर लागू होना चाहिए। उस दशा में हमारा विचार एक वार फिर ईश्वर की ओर, स्रष्टा की ओर, मुड़ना चाहिए और उसतक पहुंचने का विज्ञान धर्म है। सम्भवतः परिवर्तन-चक्र का समय आ पहुंचा है और शायद सिद्धों, सन्तों और ऋषि-मुनियों का युग फिर लौटकर मानव की आन्तरिक शक्ति को प्रकट करे।

१. क्लोद त्रेसमाँतां, 'रियलाइट्ज' पत्रिका के साथ भेंट
२. ओलिवियर कांस्ता द व्योरेगार, 'द सेकिंड प्रिन्सीपिल आफ साइन्स आफ टाइम' पुस्तक से
३. सर जुलियन हक्सले. 'द लिस्नर', २२ नवम्बर, १९५१

९ | 'मन ही राखो गोय'

मानव एक जागरूक प्राणी है। सुख के अनुराग के कारण वह वास्तविकता की परियोजना में स्वयं अपना विस्तृत तथा अतिरंजित मूल्यांकन कर बैठता है। जीवन के शैशव काल की प्रवंचनाएं, अतिमूल्यन तथा एकांगी महत्त्वाकांक्षाएं नैराश्य और भ्रान्ति निवृत्ति के समक्ष घुटने टेक दे, यह अवश्यम्भावी है। मित्र प्रायः सभीको चाहिए। ऐसे व्यक्ति तो, जो एकाकी जीवन चाहते हैं अथवा जो सदा ही अपने विचारों के स्वनिर्मित संसार में बिहार करते रहते हैं, अपवादस्वरूप हैं। सामान्य मानव को चाहिए मित्र, समाज, प्रेम, सुख, प्रेरणा, प्रोत्साहन, मनोरंजन और यदाकदा अनुकूल आलोचना भी। वह जीवित रहता है या यों कहिए उल्लसित हो उठता है, अपने मित्रों की सहायता और संरक्षण से तथा अपने व्यक्तित्व के अन्तर्वाह्य शुभ आवरणों से। कुछ लोग अपने परिवार के एक या दो सदस्यों पर विश्वास करते हैं। मित्र कभी-कभी परिवार के वाहर भी मिलते हैं।

प्रकृति से मनुष्य का ऐसा स्वभाव है कि जवतक निज पर कोई आपत्ति नहीं आती वह व्यथा को ओझल रखना चाहता है। अपना निजी-से-निजी भी कोई क्यों न हो, उसके दुःख से दूर रहकर बात भूलना चाहता है। पीड़ा या अवसाद के बहुत

से कारण हो सकते हैं। व्यावसायिक असफलताओं के कारण दीर्घकालीन अधिकारों की हानि, अथवा अवकाश-प्राप्ति से भी अच्छी-खासी चिन्ता हो सकती है। अग्नि, बाढ़ अथवा अन्य दुर्दैव से गृहनाश के कारण भी ऐसी भावना पैदा हो सकती है, मानो मांगलिक शक्तियों ने किनारा खींच लिया हो। परिवार में मृत्यु भी ऐसी भावना के लिए उत्तरदायी हो सकती है। प्रिय बान्धवों का विछोह अथवा संग्रहीत पूंजी की हानि से भी सुरक्षा को आघात पहुंच सकता है और मनोविकारों एवं शारीरिक सन्ताप को उसी काल्पनिक परिणामों तक उग्र कर सकता है। कभी-कभी अपेक्षाकृत अप्रत्यक्ष हानि भी वस्तुतः इतनी वास्तविक होती है जैसे, यौवन-क्षय, आकर्षण तथा स्फूर्ति का अभाव या ऐसे स्वप्न का भंग, जिनमें उत्तेजना और रोमांच का अन्त हो जाय।

ऐसी किसी भी दुर्घटना से वेदना हो सकती है। सन्ताप महान् व्यक्तियों को भी कातर बना देता है। राजा युधिष्ठिर के न्याययुक्त जीवन के बारे में तो कोई कुछ कह ही नहीं सकता। युद्ध में पाण्डवों के सम्बन्धी, मित्र और यहांतक कि पुत्रों में सबसे छोटा किशोर अभिमन्यु तक मारा गया। कौरवों की तो क्षति हुई ही, साथ ही कौरवों के साथ गुरु द्रोणाचार्य और भीष्म पितामह तक भी खेत आये। ऐसी दशा में युधिष्ठिर को मनःसन्ताप होना स्वाभाविक ही था। फिर उनके छोटे भाई तो उन्हें पिता से भी अधिक सम्मान देते थे। पर ग्लानि से व्याकुल होकर जब युधिष्ठिर ने अपने भाइयों को अपनी मनोव्यथा सुनाई, तो अर्जुन से न रहा गया। वह कड़ककर बोला, "कैसा दुःख,

कैसा कष्ट और कैसी भीषण कातरता है! क्षात्र धर्म के अनुसार पृथ्वी हस्तगत करके भी इस समय क्यों बुद्धि लाघव के कारण आप यह सब त्यागने की इच्छा करते हैं ? केवल मूर्खता के कारण धर्म और अर्थ को त्यागकर वनगमन करने के लिए तैयार हुए हैं ?"

भीम ने भी साथ नहीं दिया। उसने कहा, "आपकी बुद्धि, कलुषित होने से, तत्वदर्शिनी नहीं रही है।"

रहीम का कहना बड़ा उपयुक्त है :

"रहिमन निज मन की व्यथा, मन ही राखो गोय।
सुनि अठलैहैं लोग सब, बांटि न लैहैं कोय।"

शेक्सपियर ने 'किंगलियर' नाटक में एक दृश्य का वर्णन किया है :

'राजा लियर' अपनी सबसे बड़ी कन्या के पास रहता था। कुछ समय के बाद उसे अनुभव हुआ कि उसका वहां उचित सम्मान नहीं होता और उसने स्वयं को अनादृत समझा। जब वह अपनी दूसरी लड़की के पास पहुंचा और उसने बड़ी लड़की के दुर्व्यवहार से जो पीड़ा हुई थी उसे व्यक्त किया तो सुनकर दूसरी लड़की ने कहा :

"श्रीमान्! आप वृद्ध हो गये हैं। आपकी प्रकृति स्वभाव अब अन्तिम सीमा तक पहुंच चुकी है। आपको शासित होने की आवश्यकता है और ऐसे विवेकपूर्ण नियन्त्रण की आवश्यकता है, जो आपके मनोराज्य को सम्हालने में आपसे अधिक समर्थ हो।"

न्याय और अन्याय का विश्लेषण बहुत कम लोग करते हैं।

अक्सर लोगों की प्रतिक्रिया किसी भी झंझट या दुःख से दूर रहने की ही होती है।

अंग्रेज़ी में एक कहावत है कि 'तुम हँसते हो तो दुनिया तुम्हारे साथ हँसती है। रोते हो तो अकेले रोते हो।'

मनुष्य-जीवन अलग-अलग छोटी कहानियों का नहीं वना होता है। यह तो एक लगातार चलनेवाला अन्दरूनी उद्योग है, जिसमें एक घटना का असर आगे होनेवाली दूसरी घटना पर पड़ता है। हर घटना का पहलू सोचकर, उसकी छाया को देख-कर, अपना रास्ता खोज निकालना पड़ता है। चिन्तन करने-वाले को अपनी बीती, चित्रपट की तरह, साफ दीखने लगती है, और यकायक वह सजग सूरमा बनकर सामने लटकनेवाली, झूठा भय दिखानेवाली कठपुतली को तोड़ निर्भय वन जाता है।

प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व की रचना में प्रधान प्रेरणा उसी मानसिक चित्र की रहती है, जो वह अपने सम्बन्ध में रखता है। उसकी मानसिक कल्पना का आधार होता है अपने माता-पिता के विषय में उसकी मनोवैज्ञानिक धारणा, उसका आदर्श और तत्सम्बन्धी स्वप्नचित्र, उसकी महत्वाकांक्षा का वह सार और आन्तरिक सामाजिक धाराओं का वह अमूर्त रूप जो उस सांस्कृतिक वातावरण का प्रतीक है, जिसमें वह रहता है। ऐसे तत्त्व कुछ अन्य मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के साथ जुड़-कर मानव के अन्दर जो भाव उत्पन्न करते हैं, उसीको 'आत्म-भाव' कहा जा सकता है।

भर्तृहरि ने कहा है :

"छिन्नोऽपि रोहित तरुः क्षीणोऽप्युपचयिते पुनश्चंद्रः
इति विमृशंतः संतप्यन्ते न विप्लुलता लोके।"

—अर्थात् कटा हुआ वृक्ष फिर फैल जाता है और क्षीण हुआ चन्द्र फिर बढ़कर पूर्ण चन्द्र हो जाता है, यह समझकर बुद्धिमान पुरुष विपत्ति में नहीं घबराते।

नल के उपाख्यान में आता है कि जब जुए में सबकुछ हारकर भूखे नल ने जंगल में पक्षी पकड़ने के लिए अपनी धोती उनपर फेंकी, तो वे धोती लेकर उड़ गये। व्यथित होकर उसने दमयन्ती को अपने दुःख में भागी बनाना उचित न समझा, और विदर्भ के रास्ते में रात को उसे सोती छोड़कर अपनी व्यथा अकेले ही झेलने के लिए चल पड़ा। दमयन्ती अपने पिता के घर पहुंच गई। नल की आपदाओं का जब अन्त आया, वह दमयन्ती से आ मिला। नल का खास उद्देश्य रहा कि वह अपनी स्त्री और बच्चों को भी अपने साथ दुःख न भोगने दे। यदि वह दमयन्ती को विदर्भ के अलावा और कहीं छोड़ देता तो वह गलत तरीका होता। पर दमयन्ती को अलग दिक्कतें न झेलनी पड़ें, यह सम्हाल उसने कर ली।

किन्तु आज की समस्याएं और भी जटिल हो गई हैं। पग-पग पर नये प्रश्न उठते हैं और उनका जवाब तुरन्त देना पड़ता है। ऐसी जीवन-प्रणाली को, जो अपने सिवा दूसरे सबको ध्वस्त करने में तत्पर रहती है, मनुष्य ने गौरवान्वित करके अपनी कृतियों से ही अपनी रक्षा करने के साधन बहुत निर्बल बना दिये हैं। जिसे वह खुद ध्येय समझता है, और जो उसके लिए अध्येय है उनके बीच की सीमा इतनी कम हो गई कि अब वह

कितना चाहकर भी अपने बचाव का साधन नहीं जुटा पाता।

वैशेषिकों का कहना है कि जो शक्ति मनुष्य को अपनी क्षमता के अनुसार शिखर पर पहुंचने से रोकती है, वह है हताशा। इससे मनुष्य के मन में विद्वेष, दुःख और घृणा पैदा हो जाती है। इससे एक नैराश्य की दीवार खड़ी हो जाती है, जो मनुष्य को आगे बढ़ने से रोकती है। दुःख और हताशा दूसरे को सुनाकर हल्की जरूर हो जाती है, पर ऐसे मित्र या निजी सम्बन्धी बहुत कम होते हैं, जो पूरा सहयोग दे सकें। मनुष्य दुनिया में बहुत-सी उमंगें लेकर आता है, और उन मांगों को आस-पासवालों से, समाज से पूर्ण कराना जरूरी समझता है। किन्तु जीवन की यात्रा लम्बे और कठिन राह से गुजरती है। सौभाग्यशाली है वह, जो सभी पड़ावों पर राजी-खुशी पहुंच जाता है।

आपत्काल में जो मनुष्य स्थिरतापूर्वक पर्वत शिला की तरह अडिग रहकर विपत्तियों का मुकाबला करता है, वही सम्मान-पूर्वक रह सकता है। कातरता दिखानेवाले का तो कोई भी साथी नहीं।

'मंडल' का निबंध साहित्य

१. जीवन और शिक्षण
२. कल्पवृक्ष
३. जीवन साहित्य
४. रूप और स्वरूप
५. साहित्य और जीवन
६. कहिये समय विचारि
७. इतनी परेशानी क्यों
८. सत्यमेव जयते
९. रचनात्मक राजनीति
१०. आचार और विचार

दो रुपये